इकाई १ :तुलनात्मक राजनीति: महत्व, अर्थ, क्षेत्र एवं स्वरूप

इकाई संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 तुलनात्मक राजनीति: अर्थ एवं व्याख्या

1.4 तुलनात्मक एवं राजनीतिक क्रियाओं के महत्व

1.5 तुलनात्मक राजनीति का विषय के रूप में विकास

1.6 तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति

1.7 तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र

1.8 सारांश

1.9 शब्दावली

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

20 वीं सदी से राजनीति विज्ञान के विषय क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप राजनीतिक समस्याओं, सिद्धान्तों तथा संस्थाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण के मानदण्डों में भी परिवर्तन आया है। तुलनात्मक राजनीति, इसी दिशा में किया गया प्रयास है जिसके माध्यम से राजनीति विज्ञान में होने वाले परिवर्तनों का व्यवस्थिति ढंग से विश्लेषण करके सम्पूर्ण व्यवहार को समझने के लिए सामान्यीकरण किया जा सकता है। तुलनात्मक राजनीति के अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र एंव समस्याओं का विवेचन करने से पूर्व हमें उसके अध्ययन के महत्व को समझना होगा।

वस्तुतः तुलनात्मक राजनीति, राजनीति विज्ञान के बदलते हुए अध्ययन क्षेत्र का परिचायक है। इसके माध्यम से ऐसे नये तरीकों, तकनीकों तथा उपागमों का सृजन किया गया है जिनसे राजनीतिक वास्तविकताओं का (Political Realities) क्रमबद्व अध्ययन किया जा सके। यह भी सत्य है कि राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन किसी नवीन विकास से सम्बद्व नहीं है। राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन के साथ-साथ तुलनात्मक अध्ययन को भी समझा एवं विश्लेषित किया जा सकता है। जीन ब्लोंडेल के अनुसार, ''तुलनात्मक सरकारों का अध्ययन प्राचीनतम अत्यन्त कठिन एवं महत्वपूर्ण है तथा प्रारम्भ से ही मानव के ध्यान का आकर्षण रहा है।''१

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त ---

- तुलनात्मक राजनीति के अर्थ को समझ सकेंगे |
- तुलनात्मक राजनीति के प्रकृति को समझ सकेंगे|
- तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र को समझ सकेंगे
- तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के महत्त्व के बारे में जान पायेंगे

1.3 तुलनात्मक राजनीति: अर्थ एवं व्याख्या

आधुनिक राजनीति वैज्ञानिकों का यह दावा है कि उन्होंने राजनीतिक प्रक्रिया के सिद्धान्त एवं प्रतिमान निर्माण की ओर प्रथम चरण के रूप में राजनीतिक विश्लेषण की नूतन अवधारणाओं के सुझाव प्रस्तुत किये हैं। उनका मानना है कि राज्य की अवधारणा विश्लेषण के एक उपकरण के रूप में उन राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना व उपयोगी अध्ययन करने में विशेष सहायक नहीं, जिनमें आकार संगठन, संस्थाओं एवं संस्कृति की आधारभूत भिन्नताएँ हों। अतएव राजनीति विज्ञान में वर्षों से प्रचलित परम्परागत अवधारणाओं जैसे-राज्य, सरकार, कानून, सत्ता के स्थान पर नई अवधारणाओं का प्रयोग अपरिहार्य माना जाने लगा, ताकि राजनीतिक क्रियाओं को गम्भीरता से समझा जा सके। अतएवं समकालीन राजनीति वैज्ञानिकों द्वारा राजनीतिक अध्ययन में राजनीतिक व्यवस्था (Political System) राजनीतिक संस्कृति (Political Culture).राजनीतिक संरचना (Political Structure),राजनीतिक विकास(Political Development) ,राजनीतिक आधुनिकीकरण ; (Political Modernization ,तथा राजनीतिक समाजीकरण (Political Socialization), आदि नई अवधारणाओं का प्रयोग किया जाने लगा। इन नई अवधारणाओं में भी आधारभूत अवधारणा (Basic Concept) राजनीतिक व्यवस्था को माना जाने लगा। इस राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित राजनीतिक प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों पर तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर, राजनीतिक व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्त निर्माण के लक्ष्य से युक्त विज्ञान ही तुलनात्मक राजनीति है।

तुलनात्मक राजनीति के अर्थ को विस्तृत विवेचन करने से पहले इसका तुलनात्मक सरकार से अन्तर समझ लेना आवश्यक है। सामान्यतया दोनों का प्रयोग एक-दूसरे के लिए किया जाना स्वाभाविक है। परन्तु दूसरी ओर राजनीति विज्ञान में इनके सुनिश्चित अर्थ भी हैं। जी.के. राबर्टस ने दोनों का अर्थ अलग-अलग स्पष्ट करते हुए तुलनात्मक सरकार की परिभाषा इस प्रकार की है, ''तुलनात्मक सरकार राज्यों, उनकी संस्थाओं तथा सरकारों के कार्यों का अध्ययन है जिसमें शायद राज्य क्रिया से अत्यधिक निकट का सम्बन्ध रखने वाले पूरक समूहों राजनीतिक दल व दबाव समूहों का भी अध्ययन सम्मिलित है।''६ इसी प्रकार जीन ब्लोंडेल का कहना है, ''तुलनात्मक सरकार समकालीन विश्व में राष्ट्रीय सरकारों के प्रतिमानों का अध्ययन है।7

तुलनात्मक सरकार की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि इसमें राज्य से सम्बद्ध औपचारिक संस्थाओं का ही तुलनात्मक अध्ययन होता है। इसमें गैर-औपचारिक संस्थाओं तथा राजनतिक व्यवहार से सम्बन्धित सभी प्रक्रियाओं सभी प्रक्रियाओं को सम्मिलित नहीं किया जाता। इसमें मुख्य जोर शासन की संस्थाओं के विश्लेषण पर है। राजीतिक व्यवहार के अनेक पक्षों का, जो सरकार का दिन-प्रतिदिन की गतिविधियों को प्रभावित करते हैं, अध्ययन नहीं किया जा सकता है। दूसरी ओर तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राजनीति व्यवहार की सम्पूर्णता के अध्ययन से है। इसमें उन प्रभावों तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन भी सम्मिलित किया जाता है जिससे सरकारों के व्यवहारों का निर्धारण हो सके। 8

एडवर्ड ए. फ्रीमैन तुलनात्मक राजनीति का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''तुलनात्मक राजनीति सरकारों के विविध प्रकारों व विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण है।'' राय सी. मैक्रेडीज के अनुसार, ''हेरोडोट्स तथा अरस्तू के समय से ही राजनीतिक मूल्यों, विश्वासों, संस्थाओं सरकारों व राजनीतिक व्यवस्थाओं में विविधताएँ प्राणवान रही हैं तथा इन विविधताओं से समान तत्वों की खोज करने के जड़तीय प्रयास को तुलनात्मक राजनीति विश्लेषण की संज्ञा दी जानी चाहिये।''9

जी.के. राबर्टस के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीति एक विस्तृत विषय है जिसके अ्न्तर्गत तुलनात्मक सरकारों के अध्ययन की विषय-वस्तु को सम्मलित किया जाता है तथा साथ ही गैर-राज्यीय राजनीतिक कबीले, समुदाय, वैयक्तिक संघों आदि की राजनीति अध्ययन भी इसके अन्तर्गत किया जाता है।''10

राल्फ ब्रेबन्ती ने तुलनात्मक की व्यापक परिभाषा की है, ''तुलनात्मक राजनीति सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में उन तत्वों की पहचान व व्याख्या है जो राजनीतिक कार्यो व उनके संस्थागत प्रकाशन को प्रभावित करते हैं।''11 माइकेल कर्टिस के अनुसार ''तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं की कार्यविधिव राजनीति व्यवहार की महत्वपूर्ण निरन्तरताओं, समानताओं व असमानताओं से है।''12 आमण्ड एवं पावेल के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीति के तीन मौलिक मंतव्य हैं- प्रथम पश्चिमी तथा गैर-पश्चिमी देशों की संस्थाओं का एक साथ विश्लेषण, द्वितीय, राजनीतिक संस्थाओं का क्रमबद्व ढंग से अध्ययन करना एवं तृतीय तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धान्तों में सम्बन्ध स्थापित करना।''13

तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में राजनीति शब्द के तीन लक्ष्यार्थ हैं राजनीतिक क्रियाकलाप, राजनीतिक प्रक्रिया तथा राजनीतिक सत्ता। राजनीतिक क्रियाकलाप के अन्तर्गत वे प्रयास आते हैं जिससे सत्ता के लिए संघर्षरत लोग अपने हितों की यथासम्भव रक्षा कर सकें। राजनीतिक प्रक्रिया के अर्न्तगत उन सभी अभिकरणों की भूमिका आ जाती है जो निर्णय-निर्माण (Decision Making) प्रक्रिया से संग्लन हैं। इसी प्रकार सत्ता एक प्रकार का मानव सम्बन्ध है जिसके माध्यम से राजनीतिक प्रधिकार कुछ नीतियों के बारे में निर्णय करता है जिनका अनुपालन अन्य लोगों द्वारा करना आवश्यक होता है।

इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति, राजनीति संस्थाओं तथा राजनीतिक व्यवहार की समानताओं-असमानताओं से सम्बद्ध है। तुलनात्मक राजनीति में एक स्वतत्र अनुशासन के लिए आवश्यक सुस्पष्ट एवं निश्चित विषय-क्षेत्र है जिसका हम विस्तार से विवेचन इसी प्रकृति एवं क्षेत्र के अन्तर्गत करेंगे।

1.4 तुलनात्मक एवं राजनीतिक क्रियाओं के महत्व

राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन का श्रेय प्रथम राजनीति वैज्ञाननिक अरस्तू को ही जाता है। सर्वप्रथम अरस्तू ने ही। 158 देशों के संविधानों का अध्ययन करके संविधानों का वर्गीकरण निरंकुशतन्त्र (Tyranny) कुलीनतंत्र (Oligarchy) तथा लोकतन्त्र (Democracy) के रूप में किया था। अरस्तू के उपरान्त अनेक विद्वानों ने तुलनात्मक अध्ययन के दृष्टिकोण से अनेक नवीन दृष्टिकोणों एवं उपागमों का सृजन किया, जिससे राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन, विश्लेषण व वर्गीकरण को नया आयाम मिला। डॉ. सी. बी. गेना ने अपनी पुस्तक 'तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ' में तुलनात्मक एवं राजनीतिक क्रियाओं के महत्व पर प्रकाश डालते हुए उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लिखित की है।२

(1) राजनीतिक व्यवहार को समझना (**To Understand the Political Behaviours**)

साधारणतया जनसाधारण के लिए तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का महत्व इस बात में निहित है कि तुलनात्मक अध्ययन से देश की, बाहर के देशों की तथा अन्तराष्ट्रीय राजनीति एवं राजनीतिक व्यवहार को समझने में सहायता मिलती है। एक स्थान की राजनीतिक प्रक्रिया दूसरे स्थान से भिन्न होती है जिसका प्रमुख कारण यह है कि विभिन्न समाजों में रहने वाले मनुष्यों का राजनीतिक व्यवहार भिन्न होता है। आज प्रत्येक राजनीतिक समाज में अभिजनों का महत्व है और ये अपने व्यवहार से राजनीतिक प्रक्रियाओं, संस्थाओं एवं क्रियाकलापों पर प्रभाव

डालते हैं। अतएवं विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के अभिजनों के राजनीतिक व्यवहार का तुलनात्मक अध्ययन करने से हम विभिन्न देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझा सकते हैं। वार्ड एवं मैक्रेडीज के अनुसार ,''तुलनात्मक राजनीति विभिन्न समाजों के व्यक्तियों के मूल्य जो उन्हें प्रिय हैं, विधियाँ जिनका वे एक-दूसरे को व बाहरी विश्व को समझने में प्रयोग करते हैं तथा एक-जैसी राजनीतिक समस्याओं को हल करने के लिए भिन्न साधनों एवं समस्याओं को अपनाते हैं, इत्यादि को समझने में सहायक होती है।''३

राजनीतिक संस्थाओं, व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं की विविधतायें सहजतः ही यह प्रश्न सामने लाती हैं कि क्यों एक राजनीतिक व्यवस्था एक स्थान पर सफल तथा अन्य स्थान पर असफल होती है क्यों मार्क्सवाद रूप में ही अपनी जड़ें जमा पाया? क्यों एशिया-अफ्रीका के देशों में अधिनायवाद की प्रवृति बलवती हो रही है? क्यों भारत में लम्बे समय तक एकदलीय प्रभुत्व (One Party Dominance) बना रहा? इन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए आवश्यक है कि इन देशों में राजनीतिक व्यवहार की निरन्तरता की खोज की जाये तथा उसके कारकों का स्पष्टीकरण किया जाये। वास्तव में तुलनात्मक राजनीति का महत्व इस बात में निहित है कि इससे राजनीतिक व्यवहार की जटिलताओं को समझा व स्पष्ट किया जा सकता है।

(2) राजनीति को वैज्ञानिक अध्ययन बनाना (**Making Politics a Scientific Study**) राजनीति विज्ञान के विद्वानों का अरस्तू के समय से ही यह प्रयत्न रहा कि राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित ज्ञान को विज्ञान का रूप किस प्रकार दिया जाये? तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन इसी प्रयत्न में विशेष सहायक प्रतीत होता, है क्योंकि विज्ञान में नियम प्रतिपादन न केवल राजनीतिक प्रक्रियाओं की अनेकता से सम्भव है,वरनपरस्पर प्रतिकूल व विविधताओं वाले राजनीतिक आचरण से ही उपलब्ध प्रचुर सामग्री से सम्भव है। 1955 के उपरान्त व्यवहारवाद के विकास ने तुलनात्मक राजनीति को इतना महत्वपूर्ण बना दिया है कि यही विज्ञान के रूप में राजनीति विज्ञान के विकास का प्रथम चरण बन गई है। तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन इसलिए भी उपयोगी बन जाता है कि विविधता एवं अनेकता युक्त राजनीतिक तथ्य एवं आँकड़े विभिन्न राजनीतिक क्रियाओं की तुलना से प्राप्त हो सकते हैं। कर्टिस के अनुसार, ''जबसे व्यवहारवादी दृष्टिकोण का प्रचलन हुआ, तबसे आज तक राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता की आधुनिकतम अभिव्यक्ति हम तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन में ही पाते है।४ पीटर मर्कल के अनुसार ''वास्तव में राजनीति विज्ञान की श्रेणी में केवल तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ही आ सका है इसलिए ही सम्भवतः अरस्तू के बाद से आज तक श्रेष्ठतम विचारक राजनीति के तुलनात्मक विश्लेषण में संलग्न रहे हैं।५

(3) राजनीति में सिद्वान्त निर्माण (**Theory Generation in Politics**) तुलनात्मक राजनीति का महत्व इस बात में भी परिलक्षित होता है कि तुलनात्मक अध्ययन से ही किसी विज्ञान

में सिद्धान्तों का निर्माण एवं नियमों का निरूपण सम्भव होता है। तुलनात्मक राजनीति प्रमाणित सामान्यीकरण तक पहुँचने में सहायता करती है।

मुख्यतः राजनीतिक सिद्धान्तों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है- आदर्शीकृत सिद्धान्त (Normative Theory) था आनुभाविक सिद्धान्त (Empirical Theory) सिद्धान्तों में राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में कोई कल्पना मस्तिष्क में कर ली जाती है तथा फिर उस कल्पना को रचनात्मक रूप दिया जाता है। प्लेटो के दार्शनिक राजा के सिद्धान्त को इसी श्रेणी में रखा जाता है। इसके विपरीत आनुभाविक सिद्धान्तों में राजनीतिक व्यवहार के

वास्तविक तथ्यों को समझकर सिद्धान्तों का निर्माण होता है। इसमें राजनीति वैज्ञानिक स्वयं तथ्यों के संकलन के लिए राजनीति व्यवहार के क्षेत्र में जाकर राजनीतिक व्यावहार का अवलोकन करता है।

तुलनात्मक राजनीति का अदर्शीकृत सिद्धान्तों के निर्माण में तो कोई योगदान नहीं हो सकता है परन्तु आनुभाविक सिद्धान्त तो केवल इसी के सहारे सम्भव होते हैं, क्योंकि यथार्थ राजनीतिक व्यवहार की तुलना से ही अनुभविक सिद्धान्त का निर्माण होता है। इसी से सामान्य तथ्यों को एकत्रित किया जाता है, यथार्थ सामान्य नियम बनते हैं तथा इनके आधार पर सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन सम्भव होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलनात्मक राजनीति का महत्व राजनीतिक व्यवहार के सम्बन्ध में सिद्धान्त निर्माण में सर्वाधिक है।

(4) प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों की पुनः प्रमाणिकता (**Re-Validification of Existing Political Theories**) तुलनात्मक राजनीति का सर्वाधिक महत्व इस बात में निहित है कि इसी की सहायता से प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों का, चाहे वे आदर्शी सिद्धान्त हों या आनुभाविक सिद्धान्त, पुनः परीक्षण किया जाता है तथा उनकी प्रमाणिकता परखी जा सकती है। तुलनात्मक राजनीति प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों के पुनः परखने के लिए नवीन उपकरण व नवीनता युक्त विविध तथ्य उपलब्ध कराती है जिससे उनकी प्रमाणिकता का पुनः परीक्षण सम्भव हो सके। किसी भी विज्ञान में, यहाँ तक कि भौतिक विज्ञानों में भी परम सिद्धान्त (Absolute Theoies) नहीं हो सकते हैं। इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान में प्रचलित सिद्धान्तों की प्रमाणिकता का पुनः परीक्षण एवं पुनः मूल्यांकन करना अनिवार्य है। यह कार्य तुलनात्मक राजनीति के माध्यम से ही सम्भव हैं

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तुलनात्मक राजनीति का महत्व आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में बढ़ता जा रहा है। इससे हमें विभिन्न देशों की सरकारों एवं राजनीति के बारे में आनुभविक एवं वैज्ञानिक अध्ययन करने में सहायता मिलती है। इस बात का भी अध्ययन किया जा सकता है कि किसी देश में शासन पद्धति एवं विचारधारा का कितना अटूट सम्बन्ध है तुलनात्मक अध्ययन का महत्व लोकतान्त्रिक एवं लोक कल्याणकारी राज्य व्यवस्थाओं के कारण और भी बढ़ गया है। राज्य की हर गतिविधि का केन्द्र अब राजनीतिक व्यक्ति हो गया है। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि इस प्रकार के सर्वव्यापी राजनीतिक व्यवहार को न केवल समझा ही जाये,वरनउसे सामान्य नियम के सन्दर्भ में देखा जाये, जिससे कि हर स्तर का राजनीतिक आचरण व्यवहारिक सीमाओं की परिधि में समझा जा सके। यही कारण है कि तुलनात्मक राजनीति का महत्व उत्तरोत्तर वृद्धि पर है।

1.5 तुलनात्मक राजनीति का विषय के रूप में विकास

राजनीतिक विज्ञान में तुलनात्मक विश्लेषण की परम्परा कोई नहीं है। यदि इसमें कुछ नयापन है तो वह है तुलनात्मक विश्लेषण के स्थान पर राजनीति के अध्ययन पर बल। डॉ. सी. बी. गेना के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीति स्वतन्त्र अनुशासन की अवस्था में अचानक नहीं पहुँच गया है। इसके विकास का न केवल लम्बा इतिहास रहा है,वरनयह इतिहास अनेकों उतार-चढ़ावों से परिपूर्ण भी रहा है। इसलिए तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति, परिभाषा तथा अध्ययन क्षेत्र के विवेचन के उपरान्त यह देखना आवश्यक है कि यह विकास किस प्रकार हुआ?''14

जी.के. राबर्टस ने तुलनात्मक राजनीति विषय के इतिहास को मुख्य तौर पर तीन कालों में विभाजित किया है:

(1) अपरिष्कृत (Unsophisticated)

(2) परिष्कृत (Sophisticated)

(3) प्रगामी रूप से परिष्कृत (Increasingly Sophisticated)15

(1) अरस्तू काल ; **(The Phase of Aristotle):** तुलनात्मक राजनीति का इतिहास लगभग उतना ही प्राचीन है जितना कि राजनीतिक चिन्तन का इतिहास। इसके सर्वप्रथम चिन्तक एवं लेखक होने का श्रेय अरस्तू को ही प्राप्त है। अरस्तू ने जिन समस्याओं को तुलनात्मक विश्लेषण के लिए चुना व जिन पद्धतियों को राजनीतिक अध्ययन में प्रचलित किया वे आज भी तुलनात्मक राजनीति में विद्यमान हैं तथा अपनी मौलिकता बनाये हुए हैं। अरस्तू ने न केवल राजनीति विज्ञान को अनुशासन के रूप में प्रधानता दी, बल्कि इस बात पर भी बल दिया कि राजनीति का अध्ययन किस प्रकार होना चाहिए तथा किस प्रकार राजनीति सम्बन्धी ज्ञान को एक विज्ञान के रूप में विकसित किया जाये? इसी क्रम में अरस्तू ने तुलनात्मक राजनीति के विकास में अपना योगदान दिया। उसने तुलनात्मक एवं आनुभाविक विश्लेषण करते हुए तत्कालीन विश्व के 158 देशों के संविधानों का अध्ययन किया। इसके लिए उसने आगमनात्मक पद्धति ;प्दकनबजपअम डमजीवकद्ध का सहारा लिया। वस्तुतः अरस्तू ने तुलनात्मक पद्धति को विशेष महत्व देते हुए सरकारों के वर्गीकरण के सुनिश्चित आधार बताये जो तुलनात्मक राजनीति के मौलिक आधार माने जाते हैं।

(2) मैक्यावली एवं पुनर्जागरण काल :

मैक्यावली का युग बौद्धिक पुर्नजागरण का युग था। उसने राजनीति विज्ञान में पद्धति सम्बन्धी प्रश्न फिर उठाये तथा राजनीतिक अध्ययन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने का अप्रत्यक्ष प्रयास किया। अपनी पुस्तक '**दि प्रिंस**'में तुलनात्मक राजनीतिक अनुशासन को उसकी देन का पता चलता है। मैक्यावली ने राज्य कला तथा शासन कला के अध्ययन पर बल दिया। उसने राजनीतिक व्यवहार, शासन कला, इत्यादि के बारे में बहुत ही गणेषणात्मक प्रश्न उठाये एक शासक किस प्रकार सफल हो सकता है? शक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है? उसे कैसे कायम रखा जा सकता है तथा किस प्रकार उसका विस्तार किया जा सकता है? उसने राजनीतिक पद्धति में अनुभववाद तथा इतिहासवाद का समन्वय किया।

मैक्यावली ने यद्यपि तुलनात्मक राजनीति पर कोई पुस्तक नहीं लिखी, परन्तु अपनी पुस्तक **द प्रिंस** में विभिन्न शासन व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके तुलनातमक राजनीति का महत्व स्पष्ट किया है। हैरी एम्सटीन ने प्रिंस का तुलनात्मक पद्धति की दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए इसके निष्कर्षों को विकृत ढंग से तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग न किया होता तो आज तुलनात्मक राजनीति में प्रयुक्त शुद्ध पद्धतियों की खोज न हो पाती।16 इस प्रकार मैक्यावली का तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में असीम योगदान है।

(3) मॉण्टेस्क्यू एवं बुद्धिवाद का युग ;

बुद्धिवाद के युग में तुलनात्मक राजनीति की पद्धतियों को छोड़ जिन समस्याओं को अपनाया गया तथा जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये थे वे अत्यन्त परिशुद्ध दिखाई देते हैं। मॉण्टेस्क्यू की रचना '**दि स्प्रिट ऑफ दी लॉज**'विशेष महत्व की है। मॉण्टेस्क्यू ने अनुभूतिमूलक दृष्टिकोण तथा निरीक्षण पर आधारित वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया तथा राजनीतिक प्रश्नों का निरपेक्ष राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर ही नहीं बल्कि वास्तविक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विवेचन किया। उसने आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। मॉण्टेस्क्यू संविधान निर्माण की कला को न केवल विकसित करना चाहता था,वरनउसे वैज्ञानिक आधार भी प्रदान

करना चाहता था। उसकी मान्यता थी कि यदि राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था एवं पर्यावरण में सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित किया जाये तो उचित संविधान का निर्माण होगा। मॉण्टेस्क्यू की मान्यता थी कि यह सामाजिक व्यवसथा मानवीय सम्बन्धों एवं संगठनों का ही प्रतीक है। वह सामाजिक परिवर्तन को एक तकनीक कहता है तथा उसे मनुष्यों द्वारा संचालित मानता है।

सी.बी.गेना ने अपनी पुस्तक ''तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ'' में तुलनात्मक राजनीति के सम्बन्ध में मॉण्टेस्क्यू के योगदान को इस प्रकार प्रस्तुत किया है:17

(i) राजनीतिक व्यवस्थाओं का संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण

मॉण्टेस्क्यू ने यह बताया कि राजनीतिक व्यवस्थाओं को न केवल संगठनों की तुलना में समझा जा सकता है और नही केवल कार्यो के सन्दर्भ में इन्हें समझना सम्भव है। अतएवं राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझने के लिए उनके संगठनों व क्रियाओं का विश्लेषण करना आवश्यक है। इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू का तुलनात्मक विश्लेषण आधुनिकतम संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम का संकेतक है।

(ii) राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण

मॉण्टेस्क्यू ने स्पष्ट किया है कि राजनीति वयवस्थाएं तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर वर्गीकृत की जायें तथा इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उनके संवर्ग बनाये जा सकें । मॉण्टेस्क्यू द्वारा अपनाई गयी तुलनात्मक पद्धति हर प्रकार के राजनीतिक विश्लेषण के लिए अपरिहार्य मानी गई है।

(iii) राजनीतिक व्यवस्था, समाज, अर्थव्यवस्था एवं परिवेश में

प्रत्येक राज्य में समाज, राजनीतिक व्यवस्था, अर्थव्यवस्था तथा परिवेश में अटूट सम्बन्ध होता है। तुलनात्मक पद्धति के माध्यम से इन सम्बन्धों की श्रेष्ठता का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मॉण्टेस्क्यू ने तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र का भी संकेत दिया है कि इसमें केवल राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं, कुछ अंशों में सामाजिक, आर्थिक तथा परिवेश के राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

(iv) राजनीतिक गत्यात्मकता के यान्त्रिकी सिद्धान्तों का प्रतिपादन

मॉण्टेस्क्यू का विचार था कि राजनीतिक गतिविधियों के सम्बन्ध में सिद्धान्त निर्माण करते समय मानव गतिविधियों एवं क्रियाओं को केन्द्रीत बिन्दु बनाया जाना चाहिए। यह भी तुलनात्मक ढंग से होने पर ही राजनीतिक व्यवहार की वास्तविक गत्यात्मकताओं की तह तक पहुँच जा सकेगा।

(5) इतिहासवाद का युग

इतिहासवाद तुलनात्मक राजनीति को विकास को उन्नीसवीं शताब्दी में ले आता है। इतिहासवादी युग के दर्शन में कुछ ऐसी विरोधी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ, जिसके सहारे आधुनिक तुलनात्मक राजनीति को प्रोत्साहन मिला। यद्यपि यह योगदान नकारात्मक ही रहा, परन्तु इसे समझे बिना तुलनात्मक राजनीति में आगे के विकास को नहीं समझा जा सकता। यही कारण है कि इतिहासवादी राजनीतिक चिन्तन का तुलनात्मक राजनीति से खुला विरोध

होते हुए भी वह इसका महत्वपूर्ण प्रेरक बन गया। इतिहासवादी चिन्तन में हीगल एवं मार्म्स का योगदान उल्लेखनीय है।

हीगल जर्मन दार्शनिक था। उसके अनुसार आत्मा का मोक्ष मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। मानव का विकास एक नैतिकता की दिशा में ही रहा है तथा अन्तिम वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करना ही मोक्ष प्राप्त करना है। उसके अनुसार जो अन्तिम विवेक है, वह भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप में पृथ्वी पर अवतार लेता है तथा उसका एक रूप स्वयं मनुष्य है। राज्य भी ऐसा ही अवतरित रूप है। हीगल इसलिए राज्य को ईश्वर का पृथ्वी पर अवतरण कहता है। इस आधार पर वह एक सर्वशक्तिमान राज्य की कल्पना करता है जिसमें मनुष्य पूर्णतया राज्य के अधीन रहता है। उसकी कल्पना के राज्य में समता है तथा विषमता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसे राज्यों में तुलनात्मक अध्ययन का कोई महत्व ही नहीं है। कार्लमार्क्स के अनुसार ''वास्तविकता भौतिक पदार्थ है तथा इन भौतिक तत्वों से इतिहास को विकास के लिए प्रेरणा मिलती है। इस विकास का अन्तिम उद्देश्य भौतिक दृष्टि से वर्गहीन तथा राज्यविहीन समाज की ओर अग्रसर होना है।'' मार्क्स के अनुसार सभी समाजों में आधारभूत तत्व एक से हैं तथा उद्देश्य एक से हैं, इसलिए तुलना निरर्थक है।

यद्यपि इतिहासवादी विचारक तुलनात्मक पद्धति में विश्वास नहीं करते फिर भी उनके द्वारा प्रतिपादित कुछ प्रत्यय या अवधारणाएँ तुलनात्मक राजनीति में आधारभूत बन गये हैं। कार्ल मार्क्स का वर्ग प्रत्यय इसका उदाहरण है। इसी प्रकार इतिहासवादियों द्वारा उठाया गया धर्म एवं संस्कृति का मुद्दा तुलनात्मक राजनीति का आधारभूत प्रत्यय बन गया है। इतिहासवाद का ही परिणाम है कि अब तुलनात्मक अध्ययनों में विकास क्रम की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा है। इतिहासवादियों ने सर्वव्यापी तथा सार्वभौमिक सिद्धान्त का विचार सामने रखा जो सभी व्यवस्थाओं पर सभी देशों पर तथा हर समय समान रूप से लागू होता है।

इस प्रकार इतिहासवाद तुलनात्मक राजनीति का विरोधी होते हुए भी इस अनुशासन के लिए अत्यन्त लाभप्रद रहा है । धीरे-धीरे इतिहासवाद का प्रभाव कम होने लगा। उसका प्रभाव कम करने में वास्तविकतावाद तथा दार्शनिक बहुलवाद ने अपना योगदान दिया। इसके अतिरिक्त इतिहासवाद की दो प्रमुख धारणाओं-आदर्शवाद व मार्क्सवाद के प्रति शंकाएँ उत्पन्न होने लगी। इनसे व्यक्ति पूर्णतया राज्य के अधीन होता दिखाई दिया। फिर भी अपनी रचनात्मक प्रवृति के कारण इतिहासवाद तुलनात्मक राजनीति पर अपना प्रभाव छोड़ने में सफल हुआ।

(5) राजनीतिक विकासवाद का युग

राजनीतिक विकासवाद का युग इतिहासवाद के काल के अनुरूप ही कहा जा सकता है परन्तु वास्तव में इन दोनों में असमानताएँ ही अधिक परिलक्षित होती थीं। विकासवादी इतिहासवादियों की भाँति कल्पना में आस्था नहीं रखते थे। वे वास्तविक जीवन के तथ्यों के आधार पर राजनीतिक व्यवस्थाओं का विकास क्रम समझना चाहते थे। विकासवादियों ने सीमित समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करके केवल व्यापक राजनीतिक ढाँचों की उत्पति से सम्बद्ध कारणों को ही समझने का प्रयास किया बल्कि विभिन्न समाजों में एक सी राजनीतिक संस्थाओं के लिए एक से स्रोत मालूम करने का प्रयत्न करके तुलनात्मक राजनीति का महत्व बनाये रखा। इसलिए ही कहा जाता है कि तुलनात्मक राजनीति विकासवादी धारणाओं रूपी पुल से आगे बढ़ सकी है।

सर हैनरी मैन की पुस्तकों "Ancient Law" (1861) व "Early History of Institutions" (1874) ने राजनीतिक विकासवाद की आधारशिला रखी। उन्होंने इन पुस्तकों में यह समझाने का प्रयत्न किया है कि राज्य

कुटुम्ब का ही वृहत्तर रूप है। ऐडवर्ड जेन्कस की भी इस दिशा में महत्वपूर्ण देन है। उन्होंने अपनी पुस्तकों 'AShort History of Politics (1900) व "The State and the Nation"(1919) में राज्य के विकास की बात कही है तथा यह माना है कि समाज के छिन्न-भिन्न होने से अन्ततः राज्य का विकास हुआ। राजनीतिक विकासवादियों में किसी ने धर्म को विकास का कारण माना तो किसी ने शक्ति को, तो किसी ने विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों को। विकास के लिए उत्तरदायी विविध कारकों को समन्वयात्मक ढंग से मैकाइवर ने " The Modern State"तथा ई. एम. सैट ने "Political Institutions"(1926):A Preface(1938) नामक पुस्तकों में प्रस्तुत किया। इस प्रकार राजनीतिक विकासवादियों ने राज्य की उत्पत्ति तथा उसके विकास को समझाने के लिए जो तथ्य एकत्रित किये, उनसे तुलनात्मक राजनीति को बहुत बल मिला।

विकासवादी विचारकों की श्रेणी से अलग कुछ समाज वैज्ञानिकों का तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन में विशेष योगदान रहा। सही अर्थो में यह राजनीतिक समाज वैज्ञानिक तुलनात्मक राजनीति को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन बनाने में सहायक रहे हैं। मैक्स वेबर, पैरेटो, माइकेल्स, मोस्का, इत्यादि विद्वानों ने अपना अध्ययन राज्य तक सीमित नहीं रखा। उन्होंने सभी प्रकार की राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक दलों का अन्य गैर-राजनीतिक समूहों व संस्थाओं की संरचना को तुलनात्मक विश्लेषण में सम्मिलित किया। इससे तुलनात्मक राजनीति में विश्लेषण के नए दृष्टिकोण प्रस्तुत हुए तथा नई अवधारणाओं का प्रतिपादन हुआ। उन्होंने तुलनात्मक राजनीति को नए दृष्टिकोण, नई अवधारणाएँ तथा नवीन सिद्धान्त प्रदान किये।

(6) तुलनात्मक राजनीति में युद्धोपरान्त विकास (Post War Development in Comparative Politics) : द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त राजनीतिक व्यवस्थाओं में आयी उथल-पुथल ने तुलनात्मक राजनीति में क्रान्तिकारी परिर्वतन किये। हैरी एक्सटीन के अनुसार तुलनात्मक राजनीति में अग्रलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होने लगी थी। 18

(i) वृहत्तर राजनीतिक तलनाओं में पुनः रूचि बढ़ने लगी।

(ii) राजनीतिक की प्रक्रति की विस्तृत व सामान्य अवधारणाओं पर वह उसकी विषय-सामग्री पर सुस्पष्टता आ गयी।

(iii) कुछ प्रकार के राजनीतिक व्यवहार के निरूपकों से सम्बन्धित मध्य-स्तरीय सैद्धान्तिक समस्याओं के साधन पर अधिक जोर दिया जाने लगा।

(iv) कुछ प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं की अपेक्षित शर्तों की खोज में रूचि बढ़ी।

परन्तु यहाँ यह भी अध्ययन देना आवश्यक है कि बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों के कारण तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में भी अनेक कमियाँ उभरकर सामने आ गयी जो इस प्रकार हैं

(i) तुलनात्मक विश्लेषण के तकनीकी पक्ष का विकास नहीं हो सका।

(ii) राजनीतिक क्रियाकलापों के कानूनी औपचारिक आधार पर ही तुलना करने पर बल दिया गया तथा अनौपचारिक एवं व्यवहारिक पहलू की उपेक्षा की गयी।

(iii) तुलनात्मक विश्लेषण में गैर-राजकीय संस्थाओं की अवहेलना की गयी।

(iv) तुलनात्मक विश्लेषण के सुनिश्चित मानकों का अभाव बना रहा तथा तुलनाएँ पाश्चात्य व्यवस्थाओं तक ही सीमित रही।

वस्तुतः द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति में एक निश्चित मोड़ आया तथा यह अनुशासन अधिक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक बन गया सी. बी. गेना के अनुसार, तुलनात्मक राजनीति में युद्ध के उपरान्त निम्नलिखित विकास हुए।19

(i) तुलनात्मक राजनीति के आनुभाविक परिसर का विस्तारीकरण **(Enlargement in the Empirical Range in Field of Comparative Politics)** द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन केवल पश्चिमी लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं तक सीमित था। परन्तु पश्चिमी यूरोप में लोकतन्त्र का संकट जर्मनी एवं इटली में अधिनायकवाद के उदय तथा रूस में साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के प्रति रूचि बढ़ी। इसके अतिरिक्त तृतीय विश्व के देशों के उदय, शीत-युद्ध के जन्म तथा गुट-निरपेक्षतावाद के विस्तार ने तुलनात्मक राजनीति का नया आयाम दिया। अब तुलनात्मक राजनीति में लोकतन्त्र, अधिनायकतन्त्र व साम्यवाद, विकसित, एवं विकासशील तथा पश्चिमी एवं नवोदित सभी राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को सम्मिलित किया जाने लगा।

iiवैज्ञानिक परिशुद्धता को बढ़ावा देने में व्यवहारवादी क्रान्ति का भी योगदान रहा है। सभी सामाजिक विज्ञानों में व्यवहारवादी अध्ययनों पर बल दिये जाने के कारण राजनीति विज्ञान

में भी इसका सूत्रपात हुआ तथा तुलनात्मक राजनीति में भी इसका प्रयोग होने लगा। इससे तुलनात्मक राजनीति को अधिक वैज्ञानिक बनने का अवसर मिला तथा इसके अध्ययन दृष्टिकोणों को नया आयाम मिला।

(iii) राजनीति के समाजिक परिवेश पर बल

राजनीतिक व्यवहार तथा राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति का निरूपण सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही होता है। राजनीतिक व्यवहार को गैर-राजनीतिक समूह प्रभावित व सीमित करते हैं। कई बार तो राजनीति व्यवहार का निर्णय सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण के द्वारा भी प्रभावित होता है। इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति में अब राजनीतिक व्यवहार को सम्पूर्णता के सन्दर्भ में समझा जाने लगा। अभिजनों, दबाव समूहों, राजनीतिक दलों, नौकरशाही, नेतृत्व, प्रतिनिधित्व, इत्यादि को राजनीतिक क्रियाओं की दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में महत्वपूर्ण माना जाने लगा।

(iv) तुलनात्मक विश्लेषण के नवीन उपागमों का प्रयोग

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति में एक महत्वपूर्ण विकास अध्ययन दृष्टिकोणों एवं उपागमों का है। राजनीतिक व्यवहार की गत्यात्मकता एवं जटिलता को समझने के लिए परम्परागत औपचारिक कानूनी दृष्टिकोण अधिक सहायक न रह सके तथा इसलिए नये दृष्टिकोण प्रतिपादित हुए। इनमें राजनीतिक व्यवस्था दृष्टिकोण, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण एवं मार्क्सवाद-लेनिनवादी प्रमुख हैं। परन्तु इन सभी दृष्टिकोणों में यह कमी है कि कोई पूर्ण राजनीतिक व्यवहार की व्याख्या करने में असमर्थ है। यह कारण है कि आज भी तुलनात्मक राजनीति में अध्ययन दृष्टिकोणों की खोज जारी

है। अतएवं यह कहना समीचीन है कि द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति में व्यवस्थित एवं क्रान्तिकारी परिर्वतन हुए।

(7) तुलनात्मक राजनीति की वर्तमान अवस्था **(Comparative Politics Today):**द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त लगभग एक दशक तक विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं को तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन में सही अर्थों में सम्मिलित नहीं किया गया था। नवोदित राज्यों के सम्बन्ध में ऐण्सटीन एवं ऐप्टर का कहना है कि ''प्रथम अध्ययन तुलनात्मक न होकर नवीन राजनीतिक व्यवस्थाओं के आन्तरिक संघटकों पर प्रकाश डालने वाले रहे हैं।''20 कोलमैन, ऐप्टर ने अफ्रीका, जार्ज मेकाहिन , माइरन वीनर लूसियन डब्ल्यू पाई, कीथ कैलार्ड ,लियोनार्ड बिंडर , द्वारा कुछ अध्ययन किये जो आगे चलकर तुलनात्मक राजनीति के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए।

आधुनिक समय में तुलनात्मक राजनीति को समृद्व करने वाले विद्वानों में डेविड ईस्टन, आमण्ड, कोलमैन, कार्ल डायच, जी.बी. पावेल, हेराल्ड लासवेल, राबर्ट डाल्ह, शिल्स, डेविड ऐप्टर हैरी एक्सटीन, इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। डेविड ईस्टन, आमण्ड, तथा डायच ने तुलनात्मक विश्लेषण को एक वृहद इकाई के रूप में व्यवस्था सिद्धान्त की दृष्टि से प्रतिपादित किया। इस व्यवस्था सिद्धान्त द्वारा आज न केवल सामाजिक व्यवस्थाओं की ही तुलना हो सकी है

वरन् राजनीतिक वयवस्था के कार्यो को सम्पूर्णता देने वाले तथा परस्पर सम्बद्ध सभी तत्वों के विभेदीकृत समुच्चय के रूप में परिभीषित नयी राजनीतिक इकाइयों का समावेश भी सम्भव हो सका।

वर्तमान युग में तुलनात्मक राजनीति के अन्तर्गत अनेक शोध तकनीकों संकल्पनाओं तथा सिद्धान्तों का विकास हुआ है। व्यवस्थापिकाओं पर लोवेन्थाल एवं यंग राजनीतिक दलों पर डुवरगन-रैने एवं मैकेन्जी राजनीतिक समाजीकरण पर डेविड ईस्टन, अभिजनों के अध्ययन पर राबर्ट डाल्ह, राजनीतिक संचार पर कार्ल डायच आदि के विश्लेशण उच्चकोटि के माने जाते हैं। तुलनात्मक राजनीति के विकास विश्लेषण में ऐप्टर, रोस्टोव तथा लूसियनपाई का अध्ययन महत्वपूर्ण है। सैमुअल हंटिंग्टन, फ्रेडरिक-फे जैसे, विद्वानों ने विकास के सन्दर्भ में सैनिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण किया।

इस प्रकार विकासशील राज्यों के उदय ने तुलनात्मक राजनीति में नये अध्ययन दृष्टिकोणों, नये आयामों व नवीन अवधारणाओं का प्रचलन किया। अब सम्पूर्ण विश्व की राजनीति व्यवस्थाओं संरचनाओं व राजनीतिक आचरणों की व्यापक एवं वृहत्तर परिवेश में तुलना की जाने लगी है। आज इन लेखकों का योगदान महत्वपूर्ण माना जाने लगा है जिन्होंने तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्रों में विकासशील देशों को सम्मिलित करके तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र को व्यापक बनाया है। सिडनी बर्वा के अनुसार, '' तुलनात्मक राजनीति में बहुत से सिद्धान्तों के साथ क्रान्ति का आरम्भ हुआ। यथावत् वर्णन की अपेक्षा सैद्धान्तिक दृष्टि सम्बद्ध अन्य समस्याओं का विवेचन, एक केस के स्थान पर कई केसों पर दृष्टि, शासन की औपचारिक संस्थाओं से परे राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं राजनीतिक क्रियाकलापों का अध्ययन एवं पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र से परे एशिया, अफीका एवं लैटिन अमेरिका के राष्ट्रों का विश्लेषण इत्यादि।''21

तुलनात्मक राजनीति के विकास के प्रमुख सीमा चिन्हनों के वर्णन एवं विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि अनेकों उतार-चढ़ावों के उपरान्त आज यह एक स्वतन्त्र अनुशासन की अवस्था में पहुँच गयी है जिनमें अवधारणाओं अध्ययन पद्धतियों एवं विश्लेषण पर आम सहमति है।

1.6 तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति के सन्दर्भ में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। यही कारण है कि आज भी इसकी प्रकृति का निर्धारण सरल नहीं है, परन्तु इस सन्दर्भ में निम्न तथ्य उल्लेखनीय है:22

(i)पश्चिमी, गैर-पश्चिमी तथा साम्यवादी देशों की संस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण।

(ii)विविध राजनीतिक संरचनाओं के अतिरिक्त अराजनीतिक संरचनाओं तथा उनके प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण।

(iii) राजनीतिक संस्थाओं की अपेक्षा मानव के राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन पर अधिक बल।

(iv) राजनीतिक क्रियाकलापों, राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं सत्ता का तुलनात्मक अध्ययन।

(v) विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं संस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण।

यदि हम विभिन्न विद्वानों के तुलनात्मक दृष्टिकोणों की समीक्षा करें तो तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण पाये जाते है-

(1) तुलनात्मक राजनीतिक लम्बात्मक तुलना के रूप में **(Comparative Politics as a vertical Study):**इस विचार के समर्थकों के अनुसार तुलनात्मक रानीति एक ही देश में स्थित विभिन्न सरकारों व उनको प्रभावित करने वाले राजनीतिक व्यवहारों का तुलनातमक विश्लेषण एवं अध्ययन है। प्रत्येक राज्य में कई स्तरों पर सरकारें होती हैं- राष्ट्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार एवं स्थानीय सरकार। इस दृष्टिकोण के अनुसार तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध इस प्रकार की एक ही देश में स्थित विभिन्न सरकारों- राष्ट्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय की आपस में तुलना से है। तुलनात्मक राजनीति एक ही देश की विभिन्न सरकारों की लम्बात्मक (Vertical) तुलना है।

वस्तुतः यह दृष्टिकोण तर्कसंगत नहीं है। राष्ट्रीय सरकार तथा स्थानीय सरकारों के मध्य पायी जाने वाली तुलना सतही ही है। आर्थिक साधनों, नियमों एवं कानूनों तथा शक्ति के संसाधनों की दृष्टि से देखें तो दोनों में काफी अन्तर पाया जाता है। इस लिए तुलनात्मक राजनीति में एक ही देश की विभिन्न स्तरीय सरकारों का तुलनात्मक विश्लेषण सम्भव दिखायी देते हुए भी सामान्यीकरण सकी सम्भावनाएँ नहीं रखता। अतएवं यह कहा जा सकता है। कि तुलनात्मक राजनीति की यह धारणा अब मान्य नहीं है तथा है तथा इस आधार पर तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति का निर्धारण करना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

(2) तुलनात्मक राजनीति अम्बरान्तीय तुलना के रूप में **(Comparative Politics as a Horizantal Study):** तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति सम्बन्धी दूसरी धारण के अनुसार यह राष्ट्रीय सरकारों का अम्बरान्तीय Horizantal) तुलनात्मक अध्ययन है। अधिकांश राजनीति वैज्ञानिक भी इससे सहमति रखते हैं। इस प्रकार की तुलना दो प्रकार से सम्भव है। प्रथम तो यह है कि यह तुलना एक ही देश के विभिन्न कालों में विद्यमान राष्ट्रीय सरकारों की आपस में हो सकती है। द्वितीय आज समपूर्ण विश्व में विद्यमान राष्ट्रीय सरकारों में हो सकती है।

एक ही देश में विद्यमान राष्ट्रीय सरकारों की ऐतिहासिक तुलना तुलनात्मक राजनीति में होनी चाहिए। वर्तमान की राजनीति संथाओं प्रक्रियाओं तथा रानीतिक व्यवहारों का तुलनात्मक विश्लेषण अतीत के ही सन्दर्भ में किया जा सकता है। जैसे - भारत के सन्दर्भ में यह तुलना प्राचीन भारत की राष्ट्रीय सरकारों मध्यकालीन भारत, ब्रिटिश भारत की सरकारों तथा आधुनिक स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय सरकारों में की जा सकती है। इसी प्रकार स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकारों की तुलना एक ही शासनकाल के विभिन्न पहलुओं के सन्दर्भ में की जा सकती है। जैसे, नेहरू काल (1942-1964) अथवा इन्दिरा गाँधी (1966-1977) तथा (1980-1984)। राष्ट्रीय सरकारों की यह समस्तरीय तुलना अवश्य है परन्तु ऐतिहासिक सन्दर्भ में की जा सकती है। परन्तु इसके लिए यह जरूरी है कि हर काल की राष्ट्रीय सरकार के बारे में समान जानकरी एवं तथ्य उपलब्ध हों।

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति सम्बन्धी सर्वमान्य धारणा आज यही है कि यह समकालीन विश्व में प्रचलित राष्ट्रीय सरकारों का तुलनात्मक अध्ययन है।

जीन ब्लोंडेल के अनुसार, ''हमारे पास तुलनात्मक सरकारों के अध्ययन का केवल एक ही दृष्टिकोण बचता है तथा वह है समकालीन विश्व की राजीतिक व्यवस्थाओं से सम्बद्व राष्ट्रीय सरकारों का राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार अध्ययन करना।''23 सी.बी. गेना के अनुसार,'' वास्तव में उसी प्रकार की तुलना से न केवल सामान्यीकरण सम्भव हैवरनराजनीति व्यवहार के सम्बन्ध में ऐसे सिद्वान्तों का प्रतिपादन भी किया जा सकता है जिनसे हर देश की राजनीतिक व्यवस्था को समझा जा सके।''24

संक्षेप में तुलनात्मक राजीति की प्रकृति के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक स्वतन्त्र अनुशासन है जो राजनीति विज्ञान में एक महत्वपूर्ण शाखा बन गया है। तुलनात्मक राजनीति एक ही देश की राष्ट्रीय सरकारों का ऐतिहासिक सन्दर्भ व राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार तुलनात्मक अध्ययन ही नहीं है, अपितु इनके साथ-साथ राजनीतिक प्रक्रियाओं व राजनीतिक व्यवहार तथा सरकारी तन्त्रों को प्रभावित करने वाली गैर शासकीय व्यवस्थाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन है।

1.7 तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र (Scope of Ccomparative Politics)

तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र अभी भी सीमांकन की अवस्था में है इसके विषय-क्षेत्र की निर्माण अवस्था के कारण ही जी. के. राबर्टस ने यहाँ तक कहा कि ''तुलनात्मक राजनीति या तो सब कुछ है अथवा कुछ भी नहीं है।''25 अतएवं तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र की प्रमुख समस्या बन जाती है कि इसके अध्ययन क्षेत्र में क्या-क्या सम्मिलित किया जाये तथा क्या-क्या छोड़ा जाये? साथ ही यह भी प्रश्न आता है कि राजनीति सम्बन्धी किसी पहलू को इसके अध्ययन में सम्मिलित करने या न करने का आधार क्या हो? इस सम्बन्ध में हैरी एक्सटीन के विचार सर्वोपयुक्त हैं। सबसे अधिक आधारभूत बात यह है कि आज यह एक ऐसा विषय है जिसमें अत्यधिक विवाद है, क्योंकि यह संक्रमण स्थिति में है- एक प्रकार की विश्लेषण शैली से दूसरे प्रकार की शैली में प्रस्थान कर रहा है।26

इससे स्पष्ट है कि तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति एवं परिभाषा की भाँति इसके विषय-क्षेत्र पर भी परम्परावादी एवं आधुनिक विद्वानों में मतभेद है। जीन ब्लोंडेल ने इसे दो बातों से सम्बन्धित बताया है:

(1) सीमा सम्बन्धी विवाद

(2) मानकों तथा व्यवहार के पारस्परिक सम्बन्धों सम्बन्धी विवाद।

(1) सीमा सम्बन्धी विवाद **(Controversy over the Boundary):** सभी राजनीति वैज्ञानिक इस बात पर सहमत हैं कि तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राष्ट्रीय सरकारों से है। इसमें भी न केवल सरकारी ढाँचे बल्कि सरकारी क्रियाकलापों एवं गैर राजनीतिक संस्थाओं के राजनीतिक कार्यो का भी अध्ययन आवश्यक रूप से सम्मिलित रहता है। परन्तु यहाँ भी सरकारी क्रियाकलापों की दृष्टि से दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं- कानूनी दृष्टिकोण एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण।

इनका अध्ययन करके इसके विषय क्षेत्र का निर्धारण किया जा सकता है:

(i) कानूनी या संस्थागत दृष्टिकोण ; **(Legalistic or Institutional Approach):**इस दृष्टिकोण के अनुसार तुलनात्मक राजनीति के अन्तर्गत संविधान द्वारा स्थापित सरकारी संरचना, राष्ट्रीय सरकारों के आधार, संविधान एवं इनके द्वारा नियत कार्यकलापों का ही अध्ययन किया जाना चाहिए उनके अनुसार इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी आधार पर राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन न केवल असम्भव होगा,वरनअव्यावहारिक होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि कानूनी दृष्टिकोण के अनुसार तुलनात्मक राजनीति में केवल उसी राजनीति व्यवहार की तुलना होनी चाहिए जो संविधान में कानून द्वारा स्थापित राजनीतिक संस्थाओं से सम्बब्द्ध हो।

औपचारिक संस्थाओं की तुलना मात्र संवैधानिक दायरे में करने से कानूनी दृष्टिकोण अत्यन्त संकीण माना जाता है। इससे राजनीतिक व्यवहार की वास्तविकताओं को समझने में यहायता नहीं मिलती है। संवैधानिक दृष्टि से ब्रिटेन में आज भी निरंकुश राजतन्त्र विद्यमान है। जबकि व्यवहार में वहाँ संसदीय प्रजातंत्र विद्यमान है। भारत संविधान द्वारा एक सहकारी संघ की स्थापना की गई है, परन्तु संविधान लागू होने के 30 वर्ष बाद तक, एक ही राजनीतिक दल के प्रभुत्व तथा राज्यों में भी इसी का बहुमत सम्पूर्ण संघात्मक व्यवस्था को व्यवहार में एकात्मक बना देता है। अतएवं यह स्पष्ट है कि तुलनात्मक राजनीति में उपरोक्त दृष्टिकोण अध्ययन एवं तुलना के लिए विशेष उपयोगी नहीं है।

(ii) व्यवहारवादी दृष्टिकोण **(Behavioural Approavh)**इस दृष्टिकोण के समर्थकों को व्यवहारवादी कहा जाता है। उनके अनुसार तुलनात्मक राजनीति में केवल कानूनी व्यवस्था का औपचारिक अध्ययन एवं तुलना पर्याप्त नहीं है। वास्तव में राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार व्यवहारिक बनती है तथा राजनीतिक संस्थाओं का वास्तविक व्यवहार क्या है? यह प्रमुख बात है। जीन ब्लोंडेल ने तो राजनीति के व्यवहारिक पक्ष को आधारभूत व मौलिक माना है। व्यवहारवादियों के अनुसार तुलनात्मक राजनीति में राष्ट्रीय संस्थाओं एवं गैर-राजकीय संस्थाओं के राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित सब तथ्य एकत्रित करके विभिन्नराजनीतिक व्यवस्थाओं में तुलना करना चाहिए। राज्य सरकार एवं संस्थाओं के कार्य व कार्यविधि का अवलोकन कर उनकी तुलना करना राजनीतिक व्यवस्था की गत्यात्मकता को सही अर्थो में समझना है।

व्यवहारवादी दृष्टिकोण का तुलनात्मक राजनीति में महत्व स्पष्ट करने के लिए व्यवहारवादियों द्वारा राजनीतिक विज्ञान की दी गई परिभाषा का उल्लेख करना आवश्यक है। डेविड ईस्टन के अनुसार, राजनीतिक विज्ञान समाज में मूल्यों के अधिकृत वितरण से सम्बन्धित ज्ञान है।''27

हर राजनीतिक समाज में मूल्यों का अधिकृत वितरण केवल सरकारें ही करती हैं। अन्य संस्थाओं द्वारा मूल्यों का वितरण एवं प्रचलन अवश्य होता है, परन्तु यह अधिकृत नहीं हो सकता क्योंकि वे बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग नहीं

कर सकते। यही कारण है कि हर समाज में शासन-तंत्र का विशेष महत्व होता है। इसलिए जीन ब्लोंडेल तुलनात्मक राजनीति में इन मूल्यों के वितरण की व्यवस्था की विभिन्नराजनीतिक समाजों के सन्दर्भ में तुलना आवश्यक मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, ''तुलनात्मक सरकार के अध्ययन में उन तरीकों का जिससे समाज में मूल्यों का अधिकृत वितरण होता है, परीक्षण किया जाता है।28

इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध प्रमुखतः शासन क्रिया के इर्द-गिर्द घूमते राजनीतिक व्यवहार के तुलनात्मक अध्ययन से है। परन्तु शासन क्रिया के अन्तर्गत मूल्यों का अधिकृत आबंटन तीन स्तरों पर संचालित होता हैः

(i) मूल्यों व गन्तव्यों का नियम (ii) मूल्यों को आत्मसात करना तथा निर्दिष्ट निर्णयों में रूपान्तरण (iii) निर्णयों का क्रियान्वयन।

मूल्यों एवं गन्तव्यों के नियमन के अन्तर्गत उस प्रक्रिया का अध्ययन होता है जिनके द्वारा समाज केमूल्यों एवं उद्देश्यों का निर्माण होता है तथा जो सरकार के समक्ष जनता की माँग के रूप में आते हैं इन्हें ईस्टन माँगों वे समर्थनों का नाम देते हैं तथा जो आमण्ड के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था के निवेश हैं। जीन ब्लोंडेल के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीति में हमें सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि मूल्यों का किस प्रकार नियमन होता है तथा किन-किन तरीकों से सरकार इनसे भित्र बनती है। ''29

मूल्यों को आत्मसात करने व निर्दिष्ट निर्णयों में रूपान्तरण से तात्पर्य यह देखना है कि विभिन्न माँगों एवं मूल्यों को शासनतन्त्र किस प्रकार ग्रहण करता है। यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु है कि शासनतन्त्र के समक्ष प्रस्तुत होने वाली असंख्य माँगों में से किन्हें वह आत्मसात करता है तथा किन्हें वह अस्वीकार करता है।

निर्णयों का क्रियान्वयन शासन क्रिया का तीसरा एवं अन्तिम स्तर है। सरकार जनता के जिन उद्देश्यों एवं मूल्यों को स्वीकार कर निर्णयों का रूप देती है, उन्हें नियमों या विधियों में बदलकार लागू करती है। यह शासन क्रिया नियम निर्माण, नियम क्रियान्वयन तथा नियम अधिनिर्णयन की तीन क्रियाओं से सम्बन्धित होती है।

व्यवहारवादी प्रत्येक सरकार के कार्यों को तीन स्तरों पर देखते हैं तथा तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र इन तीनों प्रक्रियाओं से सम्बन्धित राजनीतिक व्यवहार के तुलनात्मक विश्लेषण तक मानते हैं।

व्यवहारवादियों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था की संकल्पनातमक सरलता व शासन क्रिया से सम्बन्धित तीन प्रक्रियाओं की तुलना तक तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र को सीमित रखना इस विज्ञान को स्वतन्त्र अनुशासन की अवस्था से वंचित रखना है। इसे तुलनात्मक राजनीति की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

(2) मानकों एवं व्यवहार के सम्बन्धों का विवाद **(Contraresy over the Relationships of Norms and Hehaviour):** तुलनात्मक राजनीति का विषय क्षेत्र सम्बन्धी दूसरा विवाद अधिक जटिलताओं का जनक है। मानक की अभिव्यक्ति कानून प्रक्रियाओं एवं नियमों में होती है, परन्तु राजनीतिक व्यवहार कई बार इन कानूनों के प्रतिकूल रहता है। यही तुलनात्मक अध्ययन में पेचीदगियाँ उत्पन्न करता है। अतएवं तुलनात्मक राजनीति में यह भी देखा जाना चाहिए कि राजनीति व्यवहार मानकों के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल है। कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीति क्रिया से सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा मानकों के अभिव्यक्त कानूनों का कितना पालन व कितना उल्लंघन होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मानक एवं व्यवहार दोनों ही गतिशील होते हैं। इनमें साम्य व गतिरोध दोनों ही हो सकता है। सामान्यतया इनमें पारस्परिकता रहती है तथा दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते है। अतएवं तुलनात्मक राजनीति में मानक एवं व्यवहार के राजनीतिक पहलुओं का अध्ययन भी सम्मिलित होना चाहिए। इस सम्बन्ध में जीन ब्लोंडेल ने लिखा है,'' जबकि आधारभूत दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध सरकार की संरचना से होना चाहिए पर साथ ही साथ उसका सम्बन्ध व्यवहार में स्फुटित प्रतिमानों एवं आचरणों से भी होना चाहिए, क्योंकि वे सरकार की जीवित संरचना का अभिन्न अंग हैं।''30

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन क्षेत्र के बारे में उपरोक्त विवादों के उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इसमें न केवल शासन तन्त्रों एवं संगठनों की तुलना की जाती है तथा न ही मानकों एवं व्यवहारों के सम्बन्धों का विश्लेषण मात्र ही किया जाता हैवरनइसके क्षेत्र में इन दोनों का ही समावेश आवश्यक है। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र में विभिन्न राजनीति व्यवस्थाओं की शासन संरचनाओं शासन व्यवहार प्रतिमानों व गैर-राजकीय संस्थाओं के अध्ययन कानून निर्माण, कानून प्रयोग तथा विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के अंगों से सम्बन्धित निर्णयों तथा राजनीतिक दलों व दबाव समूहों जैसे संविधानातिरिक्त अभिकरणों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं वरन उससे आगे बढ़ता है। एम. कर्टिस के अनुसार, ''राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीति व्यवहार की कार्य-प्रणाली में महत्वपूर्ण नियमितताओं, समानताओं एवं असमानताओं से तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध है।31

अन्ततः तुलनात्मक राजनीति के विषय क्षेत्र के सम्बन्ध में निष्कर्षतया यही कहा जा सकता है कि इसका सम्बन्ध शासन प्रणालियों की विभिन्नता तथा समानता दोनों से है परन्तु समानताओं से अधिक महत्व असमानता का है। ऐसा इसलिए है कि आधारभूत दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति की तुलना की जाती है तथा यह प्रक्रियाएँ विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की होती हैं। यह सामाजिक ढाँचे एवं राजनीतिक व्यवस्था दोनों से सम्बद्ध रहती है।

इस विविधतायुक्त व विषमतायुक्त राजनीतिक व्यवहार के तुलनात्मक अध्ययन से तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध है।

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति परिभाषा व विषय-क्षेत्र के विवेचन से यह सामने आता है कि राजनीतिक प्रक्रियाओं, सरकारों की संरचनाओं व राजनीतिक व्यवहार की असमानताओं का अध्ययन किस प्रकार किया जाये? एस. ई. फाइनर के अनुसार तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के चौमुखी आधार हैं 32

(1) सहभागिता-अपवर्जन या विलगन आयाम ; (Participation-excluism Dimension)
(2) अवपीड़न-अनुनयन आयाम ; (Coercion Persuasion Dimension)
(3) व्यवस्थात्मक प्रतिनिधात्मक आयाम ; (Order-representativeness Dimension)
(4) वर्तमान-भावी गन्तव्य आयाम (Present Goals-Future Goals Dimensin)

फाइनर की मान्यता है कि यदि शासन करने का अर्थ नीति का श्रीगणेश करने, नीति के निर्णय करने व नीतियों को लागू करने से लिया जाये तो सर्वत्र यही दिखायी देगा कि कुछ के द्वारा बहुतों पर शासन किया जाता है। इसलिए शासन व्यवस्थाओं सम्बन्धित राजनीतिक व्यवहारों की तुलना इस आधार पर नहीं हो सकती तथा अपरोक्त चौमुखी आधार ही तुलना के लिए उपयोगी तथ्य प्रस्तुत कर सकता है।

प्रथम आधार में यह देखा जाता है कि शासन प्रक्रिया में जनता को कितना सम्मिलित किया गया है तथा कितना वंचित किया गया है? दूसरे आधार में यह देखा जाता है कि जनता शासक के आदेशों का पालन कितनी स्वेच्छा तथा भय के कारण करती है? तीसरे आधार में यह देखा जाता है कि राजनीतिक व्यवस्था में शासक प्रतिनिधि रूप रखते हैं या नहीं। चौथे आधार में राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना करते समय किसी राजनीतिक व्यवस्था के न केवल वर्तमान मूल्यों एवं उनकी अभिव्यक्ति व पूर्ति के लक्ष्यों कावरनसमाज की आकांक्षाओं पर आधारित अपेक्षित एवं भावी मूल्यों का भी ध्यान रखना पड़ता है।

तुलना के उपयुर्क्त आयामों के विवेचन से स्पष्ट है कि राजनीति में सुनिश्चित मापयोग्य व विश्वसनीय तथ्य प्राप्त करना कठिन है। एस. ई. फाइनर द्वारा विवेचित उपर्युक्त आधार अवश्य ही इस दिशा में मार्गदर्शक है तथा मोटे तौर पर तुलनाओं की सम्भावनाओं को प्रस्तुत करता है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त आधारों पर तुलना की जाये तो राजनीतिक व्यवस्थाओं, शासनतन्त्रों, राजनीतिक व्यवहार के बारे में सामान्यीकरण की सम्भावनाएं हो जाती हैं।

1.8 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के उपरान्त यह स्पष्ट है जैसा कि राल्फ ब्रेबन्ती ने तुलनात्मक की व्यापक परिभाषा की है, ''तुलनात्मक राजनीति सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में उन तत्वों की पहचान व व्याख्या है जो राजनीतिक कार्यो व उनके संस्थागत प्रकाशन को प्रभावित करते हैं।'' माइकेल कर्टिस के अनुसार ''तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं की कार्यविधिव राजनीति व्यवहार की महत्वपूर्ण निरन्तरताओं, समानताओं व असमानताओं से है।'' आमण्ड एवं पावेल के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीति के तीन मौलिक मंतव्य हैं- प्रथम पश्चिमी तथा गैर-पश्चिमी देशों की संस्थाओं का एक साथ विश्लेषण, द्वितीय, राजनीतिक संस्थाओं का क्रमबद्व ढंग से अध्ययन करना एवं तृतीय तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धान्तों में सम्बन्ध स्थापित करना।''

तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में राजनीति शब्द के तीन लक्ष्यार्थ हैं राजनीतिक क्रियाकलाप, राजनीतिक प्रक्रिया तथा राजनीतिक सत्ता। राजनीतिक क्रियाकलाप के अन्तर्गत वे प्रयास आते हैं जिससे सत्ता के लिए संघर्षरत लोग अपने हितों की यथासम्भव रक्षा कर सकें। राजनीतिक प्रक्रिया के अर्न्तगत उन सभी अभिकरणों की भूमिका आ जाती है जो निर्णय-निर्माण (Decision Making) प्रक्रिया से संग्लन हैं। इसी प्रकार सत्ता एक प्रकार का मानव सम्बन्ध है जिसके माध्यम से राजनीतिक प्रधिकार कुछ नीतियों के बारे में निर्णय करता है जिनका अनुपालन अन्य लोगों द्वारा करना आवश्यक होता है।

इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति, राजनीति संस्थाओं तथा राजनीतिक व्यवहार की समानताओं-असमानताओं से सम्बद्ध है। तुलनात्मक राजनीति में एक स्वतत्र अनुशासन के लिए आवश्यक सुस्पष्ट एवं निश्चित विषय-क्षेत्र है |

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Jean Blandel, Comparative Government : A Reader (Eds), Macmillan, London, 1969, p. Xi.

2 डॉ. सी. बी. गेना तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं, पृ. 4-14 विकास पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली (1978

3. Ward and Macridis, Political Systems: Asia, Eaglewood Cliffs, New Jersey, (1968), p.5.

4.Michael Curtis, Comparative Govt. and Politics, Harper and Row London, 1968, p. 6.

5. Peter H. Merkel, Modern comprative Politics, Holt Rinehart, Winstan, New York, 1970, p. 1

6. G.K. Roberts, Comparative Politics Today Government and Opposition, Vol. VII No. 1 Witnter 1972, pp. 38-39.

7. Jean Blondel, An Introduction to Comparative Government, We Uliedenfield and Nicolson London, 1969. p. 6

8. Edward A. Freeman, Why Compare Comparative Politics, 1973, pp., 19-35

9. R.C. Macridis, comparative Government, 1967, p. 209.

10. G.K. Roberts, What is comparative Politics Macmillan, 1972, p. 7.

11. Ralph Braibanti, 'Comparative Government and Politics, Harper and Row London; 1968, p.6

12. Michael Curtis, comparative Government and Politics, Harper and Row, London, 1968, p. 6.

13. G. A. Almond and Powell, Comparative Politics: A Developmental Approach, Boston, (1966), p. 2-5.

14.डॉ. सी.बी. गेना, पूर्वोक्त, p.60.

15. G.K Roberts, Op. Cit. p. 45

16. Eckstein and After (Eds.), Comparative Politics : A Reader, Free press, New york, 193,p.6.

17. डॉ. सी.बी. गेना पूर्वोक्त p.65

18.Eckstein and After (Eds.), Comparative Politics : A Reader, Free, Press, New York, (1963),p.12.

19-डॉ. सी.बी. गेना पूर्वोक्त] p.78.

20. Eckstein and Apter, Op cit, p. 12.

21.Sidney Verba, "Dilemmas in Comparative Research, World Politics Vol. XX, 1963-68 ,p-III.

22.Jean Blondel, "An Introduction to Cocparative Government", Weilden Field and Nicholson London,1969,p. Blandel.

23.Jean Blaondel, An Introduction to Comparative Government, London, 1969.p.6.

24-डॉ. सी.बी. गेना पूर्वोक्त] p.40.

25.G.K. Robers, Comparative Politics, Today, p.6.

26.Eckstein and Apter, Op, cit., p.6.

27.David Eastan, The Political System, New York, (1953), p.129.

28. Jean Blondel, op. cit. p.6.

29.Jean Blondel, Ibid p.6.

30.Jean Bolndel, Ibid p,11.

31.Michacl Curtis, Op.cit. p. 5.

32.S.E. Finer, Comparative Government, Allen have, London, 1970, p.40.

1.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

१.S.E. Finer, Comparative Government, Allen have, London

२.David Eastan, The Political System, New York,

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1.तुलनात्मक राजनीति के अर्थ एवं प्रकृति की विवेचना कीजिये |

इकाई 2 :तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत उपागम

इकाई संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के उपागम

2.4 तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम

2.5 तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम की सामान्य विशेषताओं

2.6 परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की आलोचना

2.7 परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का महत्व

2.8 सारांश

2.9 शब्दावली

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.13 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन प्रारम्भ से ही राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत विभिन्न संकल्पनाओं प्रत्ययों एवं वास्तविकताओं का विश्लेषण रहा है। ऐक्सटीन तथा ऐप्टर के अनुसार, ''राजनीति विज्ञान में राजनीतिक संस्थाओं, संविधानों तथा सरकारों के तुलनात्मक अध्ययन का अत्यधिक लम्बा एवं गौरवमय अतीत है।''1 तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन अब तक केवल नाम से ही तुलनात्मक रहा है। एक लम्बे समय तक यह केवल विदेशी शासनों, उनके ढाँचे तथा औपचारिक संगठन का ऐतिहासिक, वर्णनात्मक तथा कानूनी तौर से अध्ययन रहा है जब कि तुलनात्मक राजनीति को सिद्धान्तों, ढाँचों तथा वास्तविक व्यवहारों से अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।''2

राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण का श्रेय सर्वप्रथम अरस्तू को ही जाता है जिन्होंने तत्कालीन 158 यूनानी नगर राज्यों के संविधानों का तुलनात्मक विश्लेषण किया था। इस विश्लेषण में अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मापदण्ड आज भी तुलनात्मक राजनीति में प्रासंगिक माने जाते हैं।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त

- तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम के बारे में जान सकेंगे
- तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम की सामान्य विशेषताओं के बारे में जान सकेंगे
- परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का महत्व को समझ सकेंगे |

2.3 तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के उपागम

अरस्तू के बाद अनेक राजनीतिक विचारकों ने राजनीतिक संस्थाओं व व्यवस्थाओं के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। इनमें सिसरो, पालिबियस, मैक्यावली मॉण्टेस्क्यू मार्क्स, मिल तथा बेजहाट इत्यादि विद्वानों का नाम महत्वपूर्ण है जिन्होंने विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया।

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के उपागमों का अध्ययन करने से पूर्व हमें दो बातों का ध्यान रखना होगा।

1.राजनीति वैज्ञानिक इस प्रश्न का उत्तर प्रारम्भ से ही ढूँढ़ने में व्यस्त हैं, क्योंकि एक प्रकार की राजनीतिक संस्थाएँ एक राजनीतिक व्यवस्था में सफल रहती हैं तथा अन्य राजनीतिक व्यवस्था में असफल हो जाती है। यह जानने के लिए विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन ही काफी नहीं है, इसके लिए विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण भी आवश्यक है। इसके द्वारा ही किसी राजनीतिक व्यवस्था एवं संस्था की श्रेष्ठता का पता चलता है। यही कारण है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण की प्रमुख पद्धति बनता जा रहा है।

2.पिछले सौ वर्षों के भीतर विशेषकर, द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन क्षेत्र में बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के कारण क्रान्तिकारी परिर्वतन आ गये। यही कारण है कि अध्ययन के पुराने दृष्टिकोण निरर्थक होते चले गये तथा विश्लेषण की नई तकनीकों का उदय हुआ। नई तकनीकों के उदय के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागमन सामने आये हैं।

डॉ. सी. बी. गेना के अनुसार यद्यपि परम्परागत एवं आधुनिक राजनीति के अन्तरों का सुनिश्चित आधार निर्धारित कर पाना कठिन है फिर भी दानों में कुछ मौलिक अन्तर ऐसे हैं जिनके कारण तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत परिप्रेक्ष्य आधुनिक परिप्रेक्ष्य से अलग हो जाता है।[4] संपेक्ष में ये इस प्रकार हैं।

(1) अध्ययन के दृष्टिकोण के आधार: परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन क्षेत्र भी आधुनिक तुलनात्मक राजनीति से भिन्न है। परम्परागत राजनीति का अध्ययन औपचारिक कानूनी एवं संस्थात्मक था। इसमें संविधान द्वारा स्थापित संस्थाओं का ही तुलनात्मक अध्ययन होता था, जबकि आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में औपचारिक कानूनी संस्थाओं के साथ साथ राजनीतिक व्यवहारों का अध्ययन भी सम्मिलित है।

(2)अध्ययन क्षेत्र का आधार: परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन क्षेत्र भी आधुनिक तुलनात्मक राजनीति से भिन्न है। परम्परागत राजनीति में केवल पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं को ही अध्ययन में सम्मिलित किया जाता था। इससे भी पहले केवल लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं के शासन ढाँचों का अध्ययन किया जाता था। यद्यपि जर्मनी व ईटली में अधिनायकवाद व रूस में साम्यवाद के उदय से इनको भी अध्ययन में सम्मिलित किया जाने लगा था, परन्तु फिर भी यह अध्ययन पाश्चात्य विश्व की शासन व्यवस्थाओं तक ही सीमित रहे आधुनिक तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र बृहत्त है। इसमें सम्पूर्ण विश्व की व प्रमुखतया नवोदित राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को भी अध्ययन में सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार दोनों में अध्ययन क्षेत्र के आधार पर अन्तर किया जाता है।

(3)विश्लेषण का आधार: इन दोनो में विश्लेषण पद्धति का भी अन्तर है। परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का शासन व्यवस्थाओं व सरकारों के केवल विवेचन मात्र से सम्बन्ध था। इसमें संविधान द्वारा स्थापित शासन तन्त्र का औपचारिक वर्णन मात्र किया जाता था। आधुनिक तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन विवेचनात्मक मात्र न रहकर विश्लेषणात्मक है। इनमें राजनीतिक व्यवस्थाओं के व्यवहारों का विश्लेषण प्रमुखतया राजनीतिक व्यवहारों को समझने के लिए किया जाता है।

(4)अध्ययन उद्देश्य का आधार: परम्परागत तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन सरकारों एवं संस्थाओं की व्यवस्था तक ही सीमित रहे। इनमें विचित्र राजनीतिक व्यवहार की प्रकृति को समझने के लिए इनकी व्याख्या ही काफी समझी गयी। परन्तु आधुनिक तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययनों का प्रमुख ध्येय ही समस्याओं के समाधान का रहा है। इस प्रकार यह मुख्यतया समस्या-समाधानात्मक अध्ययन है।

अतएवं यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक राजनीति के परम्पराग एवं आधुनिक उपागमों में उपरोक्त दृष्टिकोण के आधार पर पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार

के उपागमों की प्रकृति को समझने के लिए हमें इनका विस्तार से विवेचना करनी होगी

2.4 तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम

तुलनात्मक संस्थाओं एवं सरकारों के प्रारम्भिक प्रयासों को परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का नाम दिया जाता है। जिन विद्वानों के राजनीतिक अध्ययनों को परम्परागत परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित किया जाता है उनमें सर अर्नेस्ट बार्कर, हेराल्ड, जे. लास्की, कार्ल जे फ्रेडरिक व हरमन फाइनर प्रमुख हैं। इन लेखकों ने तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करके मुख्यतः पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन किया। इसके अर्न्तगत भी उन्होंने मुख्यतया लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं का ही अध्ययन किया तथा अलोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं से अपने आपको अलग रखा। इस दृष्टि से परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन क्षेत्र अत्यन्त सीमित एवं संकुचित था। इस दृष्टिकोण को भली-भाँति समझने के लिए इसकी सामान्य विशेषताओं को समझना होगा।

राय. सी. मैक्रीडीज के अनुसार, परम्परागत तुलनात्मक राजनीति केवल नाममात्र से ही तुलनात्मक थी वह तो विदेशी शासन विधानों का अध्ययन मात्र थी, जिसमें सरकारों की संरचना तथा संस्था के औपचारिक संगठनों का वर्णनात्मक, ऐतिहासिक एवं कानूनी अध्ययन किया जाता था।[5] जीन बलोंडेल के अनुसार, इसमें लिखित संवैधानिक दस्तावेजों तथा कानूनी आलेखों के अध्ययन पर बल दिया जाता था।[6]

मेक्रेडीज ने तुलनात्मक राजनीति की पाँच विशेषताएँ बतलाई हैं:

(1) प्रधानतः अतुलनात्मक (2) प्रधानतः वर्णनात्मक (3) प्रधानतः संकीर्ण (4) प्रधानतः स्थिर (5) प्रधानतः प्रबन्धकीय।

2.5 तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम की सामान्य विशेषताओं

परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है।

(1) प्रधानतः अतुलनात्मक (Essentially Non-comparative) राय सी. मैक्रेडीज ने परम्परागत तुलनात्मक राजनीति अध्ययनों को मूलतः अतुलनात्मक बताया है। ये सभी अध्ययन एक दो देशों के ही अध्ययन थे। इनमें अध्ययन की इकाई किसी एक देश का संविधान होता था। उदाहरण के लिए ऑग एवं जिंक ने 'Governments of Europe' नामक कृति में ब्रिटेन, जर्मनी फ्राँस, इटली इत्यादि राष्ट्रों की संवैधानिक व्यवस्थाओं का ही अध्ययन किया था। इस अध्ययन का सम्बन्ध सामानान्तर संस्थाओं के अध्ययन तक सीमित रहा, जैसे- ब्रिटेन, फ्राँस तथा अमेरिका की व्यवस्थापिकाओं या कार्यपालिकाओं की तुलना करना। इसके साथ ही साथ यह अध्ययन अनेक देशों के संवैधानिक आधारों के वर्णन में ही व्यस्त रहे। इन लेखकों ने अलग-अलग राज्यों वे संवैधानिक व्यवस्थाओं का पृथक्-पृथक् अध्ययन भी किया। जैसे ब्रिटेन की राजनीतिक संस्थाओं का भी वर्णन करके उनकी फ्राँस की राजनीतिक संस्थाओं के विवेचन के साथ तुलना करना। वास्तव में इस प्रकार का वर्णन भी सही अर्थो में तुलनात्मक नहीं था तथा इसलिए मैक्रेडीज का कहना है, ''अब तक के तुलनात्मक अध्ययन केवल नाम से ही तुलनात्मक थे।[7]

(2) प्रधानत: वर्णनात्मक (**(Essentially Descriptive)**)परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन समसया समाधानात्मक या विश्लेषणात्मक न होकर वर्णनात्मक रहे हैं। परम्परागत विद्वानों की मान्यता थी कि संस्थाओं का वर्णन उनकी व्याख्या के लिए पर्याप्त है। इसलिए इन विद्वानों ने शासन व्यवस्थाओं का वर्णन करके विभिन्न शासनतन्त्रों के मध्य समानताओं एवं असमानताओं का स्पष्टीकरण ही किया। परन्तु इस बात की परवाह नहीं की कि यह समानताएँ या असमानताएँ किन कारणों से हैं? वस्तुतः वे राजनीतिक व्यवस्थाओं सरकारों के स्वरूपों एवं संस्थाओं के वर्णन से आगे नहीं बढ़े। इस दृष्टि से जेम्स टी. शाटवले की कृति 'Government of Continental Europe'प्रमुख हैं इस दृष्टि से परम्परागत तुलनात्मक राजनीति वर्णनात्मक ही रही है।

(3) प्रधानतः संकीर्ण (**(Essentially Parochial)**) परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन प्रधानतः पाश्चात्य राज्यों की शासन व्यवस्थाओं की संकीर्ण परिधि में ही बँधे रहे। सांस्कृतिक या भाषीय समानता के आधार पर ही यह लेखक एक राज्य से आगे बढ़कर दूसरे या तीसरे राज्य को सम्मिलित अध्ययन के लिए लेते थे। मुख्यतया ये अध्ययन यूरोप एवं अमेरिका तक ही सीमित रहे। ऐक्सटीन व ऐप्टर ने इस दृष्टिकोण का सार इन शब्दों में व्यक्त किया है, ''परम्परागत दृष्टिकोण पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं तक सीमित रहा तथा प्रमुखतया एक संस्कृति संरूपण या समूह का ही इसमें अध्ययन का ही इसमें अध्ययन किया गया।[8]

(4) प्रधानतः स्थिर (**(Essentially Static) :**) परम्परागत उपागम में उन गतिशील कारकों का अध्ययन नहीं किया गया, जोकि विविध राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति तथा विकास का आधार होते हैं। परम्परागत विद्वानों ने कानूनी सन्दर्भ में राजनीतिक व्यवस्थाओं अध्ययन किया तथा उन तत्वों की अवहेलना की जो राजनीतिक परिवर्तनों तथा विकास की समस्याओं एवं दिशाओं से सम्बन्धित होते हैं। उन्होंने उन परिस्थितियों एवं तत्वों का अध्ययन करना आवश्यक नहीं समझा जो किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में संसदीय प्रणाली अथवा अध्यक्षीय प्रणाली को सफल अथवा असफल बनाती है।

(5) प्रधानतः प्रबन्धकीय (**(ESSENTIALLY MONOGRAPHIC STUDIES) :**) तुलनात्मक शासन से सम्बन्धित अधिकांश परम्परागत रचनायें लम्बे निबन्धों जैसी हैं। इन रचनाओं में किसी एक शासन व्यवस्था की संस्था अथवा उस व्यवस्था में किसी विशिष्ट संस्था का विवेचन किया गया है। जॉन मेरियट, आर्थर कीथ, जेम्स ब्राइस, सर आइवर जेनिंग्स, हेराल्ड लास्की, ए., वी. डायसी, राब्सन, वुडरो विल्सन, इत्यादि लेखकों की रचनाओं

को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। इन विद्वानों के अध्ययन विषयों में, अमेरिका राष्ट्रपति, ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था, ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल, अमेरिकी काँग्रेसी, फ्रेंच प्रशासकीय कानून, इत्यादि हैं।

(6) प्रधानतः आदर्शीकृत अध्ययन (**(Predominantly Normative) :**) परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन आदर्शपरक थे। वे कतिपय आदर्शपरक धारणाओं को राजनीतिक संस्थाओं के लिए कसौटी मानकर चलते हैं। परम्परागत विद्वान आदर्शपरक मान्यताओं जैसे - 'लोकतन्त्र सर्वश्रेष्ठ प्रणाली हैं, द्वि-दलीय व्यवस्था से ही लोकतन्त्र सफल रहेगा' इत्यादि बातों को कसौटी मानते हैं तथा इसी के आधार पर शासन व्यवस्थाओं की सफलता एवं असफलता का मूल्यांकन करते हैं। जहाँ-जहाँ इन मान्यताओं के अनुरूप संस्थाएँ तथा राजनीतिक व्यवस्थाएँ प्रचलित रही, वही इनके अध्ययन का आकर्षण बनी। यही कारण है कि वे पाश्चात्य लोकतन्त्र को अध्ययन का आदर्श विषय मानते रहे तथा अलोकतन्त्रीय व्यवस्थाओं को निरर्थक समझते रहे।

(7) प्रधानतः औपचारिक संस्थागत अध्ययन (**(Excessively Formal Institutional) :**) तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययनों में राजनीतिक संस्थाओ का औपचारिक तथा कानूनी अध्ययन किया गया था। डायसी, मुनरो, ऑग एवं जिंक जैसे विद्वानों ने अपने अध्ययन औपचारिक संस्थाओं के विवेचन तक ही सीमित रखे। राय मैक्रेडीज के अनुसार, ''उन्होंने इस बात को जानने का प्रयत्न नहीं किया कि संविधान एवं राजनीतिक संस्थाएँ व्यवहार में किस प्रकार कार्य करती हैं।''[9]

परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की विशेषताओं का अध्ययन करने के उपरान्त उसकी अध्ययन पद्वतियों का भी विश्लेषण किया जाना आवश्यक है। वास्तव में तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की परम्परागत विधियों का सम्बन्ध इतिहास, नीतिशास्त्र, दर्शन एवं विधि की प्रधानता से रहा है। इस दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के प्रमुख उपागम इस प्रकार रहे हैं:

(1) दार्शनिक पद्वति (**(Philosophical Method) :**) प्लेटो, रूसो, जे. एम. मिल आदि के द्वारा इस पद्धति को प्रमुख रूप से अपनाया गया है। प्लेटो द्वारा रिपब्लिक में आदर्श राज्य की कल्पना, थामस मूर के द्वारा यूटोपियन राज्य की कल्पना, लॉक द्वारा प्राकृतिक अधिकार की धारणा, रूसों द्वारा सामान्य इच्छा की धारणा का प्रतिपादन दार्शनिक पद्धति पर ही आधारित है। यह बात अलग है कि इन धारणाओं का प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध तुलनात्मक राजनीति से नहीं है, परन्तु न्याय स्वतन्त्रता तथा नागरिक दायित्वों के सम्बन्ध से उनके विचार आज भी प्रासंगिक हैं।

(2) ऐतिहासिक पद्वति (**(Historical Method) :**) ऐतिहासिक पद्वति इस मान्यता पर आधारित है कि राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण नहीं किया जातावरनवे विकास का परिणाम होती हैं। गिलक्राइस्ट के अनुसार, ''ऐतिहासिक पद्धति की इसी उपयोगिता के कारण अरस्तू के समय से इस पद्धति का प्रयोग किया जाता रहा है। लास्की, मैक्यावली, मॉण्टेस्क्यू, हीगल, कार्ल मार्क्स, हर्बर्ट स्पेंसर आदि ने किसी न किसी रूप में इस पद्धति का उपयोग किया है। सर हेनरी मेन तथा मैकाइवर ने इसका प्रयोग विकासवादी उपागम के रूप में किया है। इस उपागम में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यह व्यावहारिक राजनीति की समस्याओं को हल करने में असमर्थ है।

(3) औपचारिक एवं कानूनी विधि **(Formal and Legal Method) :** 19 वीं सदी में जर्मनी में औपचारिक एवं कानूनी विधि उभर कर सामने आयी। अमेरिका तथा ब्रिटेन में भी यह पद्धति लोकप्रिय होती चली गयी। इस सन्दर्भ में डायसी का 'Law of the Contitution' तुलनात्मक राजनीति के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। थियोडोर,

वुल्से, वुडरो विल्सन, कार्टर हर्ज, न्यूमैन इत्यादि विद्धानों ने देश विदेश की कानूनी संहिताओं तथा संविधानों का विश्लेषण करके तुलनात्मक राजनीति को पुष्ट किया। औपचारिक तथा कानूनी आधार पर लिखी गयी अधिकांश पुस्तकें मात्र औपचारिक संस्थाओं तथा कानूनों के अध्ययन पर बल देती हैं। इस उपागम की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह सामाजिक आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक कारकों की उपेक्षा करता है।

(4) संरूपण विधि **(The Configurative Method) :**इस विधि के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य की राजनीतिक व्यवस्था को धुरी मानकर इसका अलग से अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत विविध प्रकार के आँकड़े तथा अन्य आवश्यक सामग्री एकत्रित करके तुलनात्मक विश्लेषण किया

जाता है। इसके प्रमुख प्रतिपादकों में न्यूमैन कार्टर हर्ज,रोशर इत्यादि प्रमुख हैं। इस उपागम से तुलनात्मक विश्लेषण की विशिष्ट सामग्री उपलब्ध हो जाती है। फिर भी ये उपागम वर्णनात्मक एवं संकुचित मानी जाती है तथा इसमें आर्थिक सामाजिक कारकों की उपेक्षा की जाती है।

(5) समस्यागात विधि **(Problem Oriented Method) :** इस विधि के द्वारा समस्यागत क्षेत्रों का अध्ययन किया जाता है। कई विद्वानों ने इस उपागम के द्वारा शासन प्रणालियों की प्रचलित समस्याएँ जैसे 'लोकतन्त्र तथा आर्थिक नियोजन में सम्बन्ध' 'द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका का ह्रास', प्रदत्त व्यवस्थापन आदि का अध्ययन किया। यह उपागम तुलनात्मक विश्लेषण की दृष्टि से ठोस आधार प्रस्तुत करता है। इस उपागम को अधिक उपयोगी बनाने के लिए मनुष्यों के व्यवहार तथा राजनीतिक संस्थाओं एवं अन्य सामाजिक, आर्थिक कारकों में सम्बन्ध की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

(6) क्षेत्रीय उपागम **(The Area Approach) :** द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में क्षेत्रीय उपागम का प्रचलन बढ़ा। मैक्रेडीज के शब्दों में, ''कतिपय देशों के ऐसे समूहों को एक क्षेत्र माना जा सकता है जिनमें पर्याप्त सांस्कृतिक एक रूपता हो, ताकि उनकी राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके।'' क्षेत्रीय उपागम के आधार पर लिखे गये ग्रंथों में आमण्ड एवं कोलमैन की पुस्तक "The Politics of Developing Areas', राबर्ट स्केलापिनो की कृति 'Democracy and Party Movement in War Japan, बेरिंग्टन मूर की कृति 'Politics-The Dilemma of,' डेविस की कृति 'Government and Politics in South East Asia' हरारी की कृति 'Government and Politics of Middle East' प्रमुख है।

इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि भौगोलिक आधार पर अधिक बल देता है और तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर यह सामान्य सिद्धान्त के निर्माण में उपयोगी नहीं सिद्व होता।

(7) संस्थागत-कार्यात्मक उपागम **(Structural Functional Approach) :** इस उपागम में राजनीतिक व्यवस्था के संरचनात्मक तथा कार्यात्मक पक्ष पर बल दिया जाता है। आमण्ड, हरमन फाइनर, के. सी. व्हीयर तथा कार्ल जे. फ्रेडरिक के अध्ययनों में इस उपागम को अपनाया गया है।

इस उपागम का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें राजनीति के गतिशील कारकों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

2.6 परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की आलोचना (CRITICISM OF TRADITIONAL COMPARATIVE POLITICS)

परम्परागत तुलनात्मक राजनीति अपनी सीमाओं के कारण अनेक विसंगतियों का शिकार हुई है। मात्र लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के सहारे तुलनात्मक विश्लेषण सम्भव नहीं हो सकता। यही कारण है कि समय बीतने के साथ यह उपागम राजनीतिक व्यवहार की गतिशीलता को समझने में असमर्थ रहा तथा इसकी कमियाँ उजागर हो गयी। परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है:

(1) सही अर्थो में तुलना नहीं (Non-comparative in Real Terms) : परम्परागत अध्ययनों में अर्थपूर्ण तुलनाओं का प्रयास नहीं किया गया है। इसमें मात्र शासन प्रणालियों अथवा संस्थाओं के ऊपर ढाँचे की समानताओं एवं असमानताओं की तुलना की गयी अथवा अमेरिकी राष्ट्रपति की तुलना भारतीय प्रधानमन्त्री से की गयी जिसे सही अर्थो में तुलना नहीं कहा जा सकता। आमण्ड एवं पावेल के अनुसार, '' परम्परागत तुलनात्मक राजनीति, अलग-अलग राजनीतिक व्यवस्थाओं की विशिष्ट विशेषताओं पर प्रकाश डालने तक ही सीमित रही तथा व्यवस्थित तुलनात्मक विश्लेषण नाम मात्र का ही था।'[10] मैक्रेडीज के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन अब तक केवल नाम मात्र से ही तुलनात्मक रहा है। अब तक केवल विदेशी सरकारों, उनके ढाँचे तथा औपचारिक संगठन का ऐतिहासिक वर्णनात्मक वैधानिक अध्ययन ही रहा है जबकि तुलनात्मक राजनीति को सिद्धान्तों ढाँचों तथा वास्तविक व्यवहार से अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।[11] कहने का तात्पर्य यह है कि परम्परागत राजनीति का दृष्टिकोण वास्तव में तुलनात्मक नहीं था।''

(2) अराजनीतिक व्यवहार की उपेक्षा **(Lgnoring Non-Political Behaviour) :**तुलनात्मक राजनीति का दूसरा आक्षेप यह लगाया जाता है कि इसमें राजनीतिक व्यवहार के अराजनीतिक तत्वों की उपेक्षा की गयी। इसमें शासन तन्त्र की संरचनात्मक एवं कानूनी व्यवस्थाओं का ही अध्ययन किया गया। आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारकों का वस्तुतः राजनीतिक व्यवस्था पर इतना अधिक प्रभाव होता है कि उनके समझे बिना राजनीतिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। आमण्ड एवं पावेल के अनुसार ''इनका मुख्य जोर संस्थाओं, कानूनों, विधियों व राजनीतिक विचारों तथा विचारधाराओं पर ही था तथा उनके कार्य, अन्तःक्रिया व्यवहार व उपलब्धियों की उपेक्षा की गयी।''[12]

(3) विश्लेषण का आभाव (Lack of analysis) : परम्परागत अध्ययन न तो विश्लेषणात्मक, थे तथा न ही व्याख्यात्मकवरनकेवल वर्णनात्मक थे। वे राजनीतिक संस्थाओं के मूल में अनतर्निहित राजनीतिक प्रक्रियाओं, दबाव व हित समूहों तथा व्यवहार को अपने अध्ययन में सम्मिलित नहीं करते अन्तनिर्हित जिनके माध्यम से वास्तव में तुलना सम्भव है। यह भी एक विवादास्पद प्रश्न है कि फ्रांस रूस, ब्रिटेन, अमेरिका या स्विटजरलैण्ड की ही व्यवस्था को क्यों अध्ययन के लिए चुना गया? परम्परागत तुलनात्मक अध्ययनों में जो कुछ तुलना की गयी है, उनमें संघीय एवं एकात्मक व्यवस्था, संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक व्यवस्था, प्रजातन्त्र व अधिनायकवाद आदि के गुण-दोषों तथा उनके बीच समानताओं एवं असमानताओं को दर्शाया गया है।

(4) संकुचित अध्ययन (Norrow-minded Study Precision) : परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन संकुचित कहे जाते हैं। परम्परागत लेखकों द्वारा अलोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं गैर-पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं, राजनीतिक व्यवस्थाओं के अराजनीतिक आधारों तथा राजनीतिक व्यवहारों की अवहेलना की गई है। तुलनात्मक राजनीति पर लिखी गयी अधिकांश पुस्तकों में लोकतान्त्रिक व विशेष तौर से पश्चिमी यूरोपीय संस्थाओं का ही वर्णन है। कार्ल फेड्रिक जैसे लेखक ने भी अपने आपको विचारधारा एवं संस्थाओं के मध्य अर्न्तक्रियाओं तक ही सम्बन्धित

रखा है। उनकी प्रमुख पुस्तक 'Constitution Government and Democracy' में राजनीतिक व्यवस्थाओं के गुणों, विशेषताओं या लक्षणों का कोई समन्वय नहीं पाया जाता है। यह दृष्टिकोण वास्तव में संकुचित है।

(5) अध्ययन पद्धतियों के परिष्करण का आभाव **(Lack of Sophisticated Study Methods) :**परम्परागत तुलनात्मक अध्ययनों में ऐतिहासिक तथा वैधानिक पद्धति पर जोर दिया गया है। इन पद्धतियों की सीमाओं के उभरने पर भी नयी विश्लेषण प्रविधियों के प्रयोग का प्रयत्न नहीं किया गया। यही कारण है कि इसमें अन्तरअनुशासनात्मक विश्लेषण का प्रयोग सम्भव नहीं हो पाया। इसका परिणाम यह हुआ है कि इसमें अध्ययन पद्धतियों का सही ढंग से परिष्करण नहीं हो पाया।

(6) अध्ययन उद्देश्य की दृष्टि से लक्ष्य का आभाव **(Aims of Study Lacking) :** परम्परागत विद्धान केवल राजनीतिक संस्थाओं के वर्णन तक ही सीमित रह गये। उनका लक्ष्य सिद्वान्त निर्माण अथवा समस्या समाधान की ओर न रहा। आलोचकों की मान्यता है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं व व्यवहारों की जटिलता व्यापक उद्देश्य अनिवार्य बना देती है परन्तु कार्ल जे. फेड्रिक, फाइनर, माइकेल व डुवर्जर को छोड़कर अन्य विद्वान तुलनाओं का लक्ष्य लेकर संकुचित उद्देश्य की प्राप्ति में उलझते रह गये। इसका परिणाम यह सामने आया कि वे सिद्धान्त निर्माण के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहे।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि परम्परागत तुलनात्मक राजनीति में कई कमियाँ थीं। राज्य की प्रकृति, क्षेत्र एवं कार्यो में वृद्वि ने इस समस्या को और बढ़ा दिया है। राज्य के कार्यो में आये बदलावों ने सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को विश्लेषण की इकाई बना दिया है। इस दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र भी बदल गया है। इसके लिए विभिन्न नई पद्धतियों एवं आयामों का विश्लेषण किया जाने लगा है। इनका अध्ययन अगले अध्याय में किया जायेगा।

अभ्यास प्रश्न

1. **तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के कितने उपागम हैं ?**
2. तुलनात्मक राजनीति के जनक किसे माना जाता है ?

2.8 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त यह जानने में सफलता मिली कि यद्यपि परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों एवं प्रक्रियाओं को समझने में सहायक नहीं रहा फिर भी विषय की दृष्टि से उनके योगदान को हम नजर अंदाज नहीं कर सकते। इस दृष्टिकोण के माध्यम से राजनीति के अनेक तथ्य संकलित कियो गये जो बाद में राजनीतिक विश्लेषण का आधार बिन्दु बने। इस अध्ययनों में राजनीतिक व्यवस्थाओं की जटिलता का आभास मिला, जो अंततः आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में सहायक बना। एलेन बाल के शब्दों में, ''परम्परागत राजनीतिक विद्वानों द्वारा खड़े किये गये विचारों के महल चाहे कितनी ही कमजोर बुनियाद पर क्यों न हों, उनकी कृतियों द्वारा ही हमें सर्वप्रथम तुलनात्मक सरकार के बारे में जानकारी होती है।''[13]

2.9 शब्दावली

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. २ , २. अरस्तू

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.Ecksten and After (Eds.) Comparative Politics : A Reader, Free Press, New York, (1963) p.3.

2.R.C. Macridis, A Survey of the field of Comparative Government' in Jean Blondel, Comparative Government, p. XI.

3.डॉ. सी. बी. गेना, पूर्वोक्त, 86-87.

4.सी. बी. गेना, पूर्वोक्तए 88-91.

5.डॉ. सी. बी. गेना, पूर्वोक्त, 115-127

6.Jean Blondel, Comparative Government : A Reader, (1969), pp.19.

7.Roy C. Macridas, The Study of Comparative Government, Roulbday, New Yark (1955) p.7

8.Eckstein and After, Comparative Politics, A Reader Free Press, New York. 1963,p.3.

9.R.C. Macridis, Op. cit. p. 9.

10.Almond and Powell, Comparative Politics : A Developmenental Approach, Little Brown, Boston (1966), p.2.

11.Roy C. Macridis, Op. cit. p.7.

12.Almond and Powell, Op. cit. p.3.

13. Almond and Powell, Op. cit. p.3.

2.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.कम्पेरेटिव पॉलिटिक्सः ए डेवलेपमेन्टल एप्रोच, ऑमण्ड एवं पॉवेल

2.कम्यूनिकेशन एण्ड पॉलिटिकल डेवलेपमेन्ट, लूसियन पाई

3.मॉडर्न पॉलिटिकल थ्योरी, एस0 पी0 वर्मा

2.13 निबन्धात्मक प्रश्न

१. परम्परागत तुलनात्मक राजनीति के विशेषताओं की विवेचना कीजिये |

इकाई ३ :तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागम

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागम

3.4 आधुनिक उपागमों का विकास

3.5 आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की विशेषताएँ

3.6 आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की आलोचना

3.7 सारांश

3.8 शब्दावली

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.11 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन राजनीतिक विश्लेषण की दृष्टि से अधिक सहायक न रह सके। यही कारण है कि राजनीतिक वास्तवितकताओं, संस्थाओं एवं व्यवहारों को समझने के लिए नये-नये उपागमों की खोज की जाने लगी। इन नये उपागमों को आधुनिक उपागमों की संज्ञा दी जाने लगी।

एक राजनीतिक व्यवस्था में संरचनात्मक तथा कार्यात्मक दोनों ही दृष्टि से अनेक प्रवृतियाँ उभरकर सामने आती हैं। इसके अन्तर्गत सरकार के विभिन्न अंगों-कार्यपालिका, व्यवस्थापिका न्यायपालिका, नौकरशाही इत्यादि का विश्लेषण होता है। दूसरी ओर इसमें राजनीतिक दल दबाव समूह एवं विभिन्न हित समूह होते हैं। साथ ही साथ इसमें मूल्यों एवं विश्वासों का भी योगदान होता है जो समाज के आधार स्तम्भ के रूप में कार्य करते हैं। इस दृष्टि से 20 वीं सदी में राजनीति विज्ञान के अध्ययन एवं विश्लेषण के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। इस दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में अनेक आधुनिक उपागम उभरकर सामने आये हैं तथा अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से सराहनीय योगदान दिया है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्याय के उपरान्त

- तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागम के विविध पक्षों के बारे में जान सकेंगे |
- आधुनिक उपागमों का विकास के सम्बन्ध में जान सकेंगे |
- आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की विशेषताओं के बारे में जान सकेंगे

3.3 तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागम

बीसवीं सदी में आधुनिक अध्ययनों के अन्तर्गत कई रचनायें उभरकर सामनें आयीं, जिनमें **ग्राह्य वालास की रचना 'Human Nature in Politics' आर्थर बेंटले की रचना, The Process of Government' डेविड ह्यमैन की रचना 'The Government Process'** प्रमुख हैं। इन रचनाओं से एक बात साफ उभरकर यह सामने आयी हैं कि अब राजनीतिक संस्थाओं की संरचनाओं की अपेक्षा उनके व्यवहार पर अधिक बल दिया जाने लगा है। राजनीतिक विश्लेषण के लिए अब अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान जैसे सामाजिक विज्ञानों की खुलकर सहायता ली जाने लगी है। इसके परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान में भी अर्न्तअनुशासनात्क अध्ययन पद्धति का ; (inter-disciplinary) सूत्रपात हुआ है। इस नयी अनुभववादी पद्धति के परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र अधिक विस्तृत एवं बहुआयामी हो गया है। इस दिशा में योगदान देने वाले प्रमुख विद्वानों में रार्बट के. मर्टन, टालकोट पारसोन्स, डेविड ईस्टन, आमण्ड, कार्ल डायच, डेविड ऐफ्टर, एडवर्ड शिल्स, लूसियन ड्ब्ल्यू पाई, इत्यादि का नाम सम्मिलित किया जा सकता है।

3.4 आधुनिक उपागमों का विकास (Devlopment of Modern Perspective)

तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागमों की विशेषताओं एवं लक्षणों का विवेचन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं की जटिलताओं का उद्भव कैसे हुआ तथा पुराने उपागमों की अपेक्षा नये उपागमों की आवश्यकता क्यों अनुभव की गयी? आमण्ड एवं पावेल के अनुसार , परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की सर्वत्र लोकतन्त्र के प्रसार में आस्था धूमल हो गयी थी। वस्तुतः द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त परम्परागत उपागमों का महत्व कम होता गया तथा आधुनिक विधियों एवं उपागमों का महत्व बढ़ता गया।

आमण्ड तथा पावेल ने अपनी पुस्तक 'Comparative Politics : A Developmental Approach'में इस परिवर्तन के लिए तीन कारणों का उत्तरदायी ठहराया है:[1]

(1) एशिया, अफ्रीका तथा मध्य-पूर्व में राष्ट्रीय विस्फोट जिसमें विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों, सामाजिक संस्थाओं व राजनीतिक विशेषताओं वाले अनेक राष्ट्रों का राज्यों के रूप में उदय हुआ।

(2) अटलांटिक समुदाय के राष्ट्रों के प्रभुत्व का अंत तथा अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति व प्रभाव का उपनिवेशों एवं अर्ध-उपनिवेशी क्षेत्रों में प्रसार एवं विस्तार हुआ।

(3) साम्यवाद का राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की संरचना व अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बदलने के संघर्ष में एक शक्तिशाली प्रतियोगी के रूप में उभरना महत्वपूर्ण रहा।

वास्तव में तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत दृष्टिकोण बदलती हुई परिस्थितियों में राजनीतिक यथार्थ की गत्यात्मकता को समझने में असमर्थ सिद्ध हुआ तथा नयी प्रविधियों, पद्धतियों व दृष्टिकोणों का प्रयोग अनिर्वाय हो गया।

मैक्रेडीज का विचार है कि तुलनात्मक राजनीति का आधुनिक दृष्टिकोण अधिक परीक्षण करने वाला, अधिक खोजबीन करने वाला तथा अधिक व्यवस्थित है। इसका लक्ष्य राजनीतिक संस्थाओं, प्रक्रियाओं तथा व्यवहारों का उसके मूल में जाकर परीक्षण करना है।

आमण्ड एवं पावेल के अनुसार, तुलनात्मक राजनीति का आधुनिक परिप्रेक्ष्य मुख्य रूप से नयी पेचीदगियों को समझने नवीन बौद्धिक प्रवर्तन लाने तथा एक नयी बौद्धिक व्यवस्था की स्थापना की प्रवृतियों की चर्चा की है जो चार प्रकार की हैं:

(1) अधिक व्यापक विषय-क्षेत्र की खोज **(The Search for More Comprehensive, Subject):** आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में अधिक व्यापक विषय-क्षेत्र की तलाश की गई है तथा तुलनात्मक राजनीति को संकीर्णता के दायरे से निकालकर व्यापकता के सन्दर्भ में लाने का लक्ष्य रखा गया है। बदलते हुए परिवेश में लोकतांत्रिक शासन प्रणालियों के साथ-साथ निरंकुश शासन व्यवस्थाओं का यूरोपीय देशों की शासन व्यवस्थाओं के साथ-साथ विकासशील देशों की शासन व्यवस्थाओं का, पूँजीवादी देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं के साथ-साथ साम्यवादी देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करना है। इस दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र व्यापक होता चला गया है।

(2) यर्थाथवाद की खोज **(The Search for Realism):** तुलनात्मक राजनीति में यथार्थवाद की खोज की प्रवृत्ति परिवर्तित राजनीति का सीधा परिणाम है। यह कानून, विचारधारा, सरकारी संस्थाओं व संवैधानिक संरचनाओं के अध्ययन से आगे बढ़कर उन सब संरचनाओं का परीक्षण करता है जो राजनीति तथा नीति निर्धारण में अपना प्रभाव डालती हैं। आधुनिक तुलनात्मक राजनीत राज्य तथा सरकार के औपचारिक अंगों के अध्ययन के साथ-साथ राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक दलों, हित समूहों, चुनाव प्रक्रियाओं, राजनीति संचार, अभिजात्य वर्ग शक्ति आदि के अध्ययन पर भी बल देती है। राजनीति की इस प्रवृति के विकास में व्यवहारवादियों का महत्वपूर्ण योगदान है। जो वास्तविक राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन पर बल देते हैं।

(3) परिशुद्धता की खोज **(The Search for Precision):** तुलनात्मक राजनीति में सुनिश्चित निष्कर्ष निकालने के लिए वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग की प्रवृत्ति पायी जाती है। अब निर्देशन सर्वेक्षण द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं के लक्षणों, राजनीतिक संस्कृतियों, सामाजीकरण व राजनीतिक प्रक्रियाओं को परिमाणात्मक तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण करके समझने का प्रयास किया जाता है। इसके लिए कम्प्यूटर, सांख्यिकीय तथा गणितीय पद्धतियों का प्रयोग किया जा रहा है।

(4) बौद्रिक अनुक्रम की खोज **(The Search for Intellactual Order) :** तुलनात्मक राजनीति में नयी अवधारणाओं की खोज नया बौद्धिक अनुक्रम ; (Theoretical Order) स्थापित करने के लिए की जा रही है। परम्परावादी शब्दों जैसे राज्य, लोकतन्त्र क्रान्ति, फासीवाद इत्यादि का राजनीतिक शोध की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं रह गया है। उसके स्थान पर राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक संरचना, राजनीतिक विकास, राजनीतिक संस्कृति, राजनीति आधुनिकीकरण जैसी अवधारणाओं का प्रचलन हुआ। इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों राजनीतिक व्यवस्था का राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं की आन्तरिक प्रक्रियाओं तथा गतिविधियों पर प्रभाव स्वीकार किया जाने लगा है, त्यों-त्यों तुलनात्मक राजनीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अलगाव कम करने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी है। यह तुलनात्मक राजनीति का आधुनिक प्रवृत्ति का परिचायक है।

3.5आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की विशेषताएँ(Characters of Modern Comparative Politics)

राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में हुए परिवर्तनों ने तुलनात्मक राजनीति के विश्लेषण को नये आयाम प्रदान किये हैं। इस दृष्टि से नये उपागमो का सृजन किया गया है। इसमें शासनों का औपचारिक संस्थागत व नियमबद्ध अध्ययन न करके उसे कुछ आधारभूत प्रश्नों से जोड़ा गया है। इसके अध्ययन की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार है:

(1) मूलतः तुलनात्मक **(Largely Comparative in Approach) :** आधुनिक तुलनात्मक राजनीति मूलतः तुलनात्मक हैं। इसमें राजनीतिक व्यवस्थाओं के ऊपरी ढाँचे की ही तुलना नहीं होती अपितु राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा गैर राजनीतिक कारकों की भी तुलना होती है। ऐप्टर के अनुसार 'आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के अर्न्तगत औपचारिक संस्थाओं के साथ-साथ राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक व्यवहारों तथा राजनीति को प्रभावित करने वाले अराजनीतिक तत्वों का भी अध्ययन किया जाता है।'

(2) व्यापकतम विषय-क्षेत्र **(Extensive in Scope) :** आधुनिक तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र काफी व्यापक है। इसमें औपचारिक वैधानिक शासन अंगों के साथ-साथ राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक व्यवहार व राजनीति को प्रभावित करने वाले अराजनीतिक तत्वों का अध्ययन किया जाता है। इसमें यूरोपीय देशों की शासन व्यवस्थाओं के साथ एशिया, अफ्रीका के विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का भी अध्ययन किया जाता है। वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं को ऐतिहासिक सन्दर्भ में समझने का प्रयास भी आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में किया जाता है। राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं को एक अन्तराष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था से सम्बद्ध मानकर इनका एक दूसरे पर प्रभाव व उनकी पारस्परिकता भी तुलनात्मक अध्ययनों में देखी जाने लगी है। तुलनात्मक राजनीति का व्यापक विषय-क्षेत्र राजनीति विज्ञान में इसके बदले महत्व का परिचायक है।

(3) विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक **(Analytical and Explanatory) :** राजनीतिक व्यवस्थाओं के विवरण मात्र से राजनीति व्यवस्थाओं की सही प्रकृति को समझना सम्भव नही है। यही कारण है कि आधुनिक तुलनात्मक राजनीति विवरणात्मक न होकर समस्या समाधानात्मक व्याख्यात्मक तथा विश्लेषणात्मक है। सी. बी. गेना के अनुसार, ''विश्लेषणात्मक मार्ग किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को समझने का प्रयास करता है तथा उन महत्वपूर्ण संरचनाओं का परिचय देता है जिनके माध्यम से एक राजनीतिक व्यवस्था कार्य करती है तथा अन्य व्यवस्था के समान अथवा असमान बनती है।''[2] विश्लेषणात्मक पद्धति से परिकल्पनाओं की जाँच की जाती है तथा जाँच के आधार पर उन परिकल्पनाओं का धारण संशोधन या खण्डन किया जा सकता है। सभी प्रकार के वैज्ञानिक अध्ययनों में विश्लेषण का यह ढंग अनिवार्य है।

(4) व्यवस्थावादी अध्ययन **(System Oriented Study) :** इस दृष्टिकोण में संवैधानिक तन्त्र के अध्ययन के स्थान पर राजनीतिक व्यवस्था को ही आधार मानकर राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने हर राजनीतिक व्यवस्था की तीन विशेषताएँ स्वीकार की हैं - बाध्यकारी शक्ति या सामर्थ्य शक्ति का एकाधिकार तथा शक्ति के प्रयोग की साधनयुक्तता। इन तीनों विशेषताओं में से एक या तीनों का सन्दर्भ एक राजनीतिक व्यवस्था को अन्य राजनीतिक व्यवस्था या व्यवस्थाओं से भिन्न बनाता है तथा इन्हीं के आधार पर किसी राजनीतिक व्यवस्था की वैधता या अवैधता का ज्ञान होता है। राजनीतिक व्यवस्था में हर संस्था या प्रक्रिया की वास्तविकता को तभी समझा जा सकता है जब राजनीति का अध्ययन सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से किया जाये। राजनीतिक व्यवहार की वास्तविक गत्यात्मकता को समझने के लिए ही आधुनिक तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन व्यवस्था अभिमुखी होता जा रहा है।

(5) सामाजिक सन्दर्भ अभिमुखी **(Social Context Oriented) :** तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक लेखक राजनीतिक प्रक्रियाओं का सामाजिक शक्तियों की अन्तःक्रिया से गहरा सम्बन्ध स्वीकार करने लगे है। अब तुलनात्मक राजनीति के लेखक, उन सब सामाजिक संस्थाओं, शक्तियों तथा परम्परागत बन्धनों का, जो राजनीतिक व्यवस्था पर दबाव या प्रभाव डालते हैं, अध्ययन राजनीतिक दृष्टिकोण से करते हैं। ऐसी स्थिति में राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति सामाजिक सन्दर्भ में ही सही रूप में समझी जा सकती है।

(6) व्यवहारवादी अध्ययन उपागम **(Behavioural Approach of Study) :** आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की सबसे प्रमुख विशेषता व्यवहारवादी अध्ययन दृष्टिकोण को स्वीकार करना है। व्यवहारवाद राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या एवं विश्लेषण को राजनीतिक व्यवहार पर केन्द्रित करता है। राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से यह राजनीति उसकी संरचनाओं प्रक्रियाओं आदि के बारे में वैज्ञानिक व्याख्यायें प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। दूसरी ओर इसमें अन्तर अनुशासनात्मक शोध एवं विश्लेषण पर बल दिया जाता है। यह अनुभवात्मक एवं क्रियात्मक है तथा इसमें व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों, मानकीय विवरणों, कल्पनाओं आदि का स्थान नहीं है। इस दृष्टि से यह आधुनिक तुलनात्मक राजनीति को अधिक वैज्ञानिक बनाता है तथा परम्परागत राजनीति को सर्वथा अलग कर देता है।

3.6आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की आलोचना (Crititism of Modern Comparative Politics)

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र का विस्तार व परिष्कृत प्रविधियों की खोज तथा नये-नये अध्ययन दृष्टिकोणों का उपयोग तथा नयी-नयी अवधारणाओं का निर्माण अनुशासन को राजनीति विज्ञान के अनुरूप बना देता है। **जी. के. राबर्टस** के अनुसार 'तुलनात्मक राजनीति या तो सब कुछ है या कुछ भी नहीं है।'[3] इसके विषय-क्षेत्र का एक सीमा से ज्यादा विस्तार इसे राजनीति विज्ञान बना देता है तथा इससे बहुत उपयोगी निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। यही कारण है कि अनेक राजनीतिक विचारक परम्परागत दृष्टिकोण को ही अपनाने की बात कहने लगे हैं। संपेक्ष में इसकी आलोचना निम्न आधारों पर समझी जा सकती है:

(1) विषय-क्षेत्र में अत्याधिक दुःसाध्य **(Unwidely in Scope) :** राजनीतिक व्यवहार की समस्त क्रियाओं को अध्ययन में सम्मिलित करना ज्ञान की वर्तमान सीमाओं में सम्भव नहीं है। वास्तव में तुलनात्मक राजनीति एक ऐसी दुविधा के दौर से गुजरती हुई दिखाई देती है जिसमें एक ओर विषय-क्षेत्र को सीमित रखना आवश्यक लगता है जबकि दूसरी ओर नये-नये आयामों व अध्ययन दृष्टिकोणों को अपनाना राजनीतिक व्यवहार की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के लिए अनिवार्य हो जाता है। इससे आधुनिक तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र इतना व्यापक एवं दुःसाध्य बन गया है कि आलोचक उसको व्यवस्थित ढंग से समझना सम्भव नहीं मानते। हाल के वर्षो में डेविड ऐप्टर, जीन ब्लोंडेल, एम. ई. फाइनर, आमण्ड एवं कोलमैन तथा राबर्टस इत्यादि लेखक इसके विषय क्षेत्र को शासन तन्त्र एवं राजनीतिक व्यवस्था की परिधि में सीमित करने की बात करने लगे हैं।

(2) नयी अवधारणाओं की अस्पष्टता **(Vagueness of New Concerpts) :** आलोचकों का कहना है कि आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में नई अवधारणाओं जैसे राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक संस्कृति, सामाजीकरण, राजनीतिक विकास, इत्यादि पर इतना अर्थ विभेद है कि हर विद्वान इनका अपने ढंग से अर्थ निकालने का प्रयास करता है। नयी अवधारणाओं की अस्पष्टता के कारण आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की उपादेयता शंका के घेरे में बनी हुई है। यदि तुलनात्मक राजनीति को स्वतन्त्र अनुशासन के दायरे में लाना हैतो इसके लिए सर्वमान्य एवं समान अर्थी अवधारणाओं की रचना करनी होगी।

(3) व्यवहारवादी अध्ययन पर अधिक बल **(Excessively Behavioural) :** आधुनिक तुलनात्मक राजनीति व्यवहारवादी उपागमों पर अत्यधिक बल देती है। आलोचकों के अनुसार, व्यवहारवाद ने तुलनात्मक राजनीति को अत्यधिक नुकसान पहुँचाया है। इसकी सबसे बड़ी कमजोरी उसकी मूल्य निरपेक्षता है जिसे अर्नाल्ड ब्रेख्त ने बीसवीं सदी की दुखान्त घटना कहा है। पुनः व्यवहारवाद आनुभाविक तथ्यों एवं आँकड़ों को इतना अधिक महत्व देता है कि अन्य तथ्य गौण हो जाते हैं। इसने तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र को ही दिग्भ्रमित कर दिया है।

(4) विकासशील राज्यों पर अत्याधिक बल **(Excessive Emphasis upon Developing Countries) :**आधुनिक तुलनात्मक राजनीति वस्तुतः विकासशील राज्यों के तुलनात्मक अध्ययन में उलझ गयी है। वर्तमान समय में ऐसे अध्ययनों की बाढ़-सी आ गयी है। सत्य बात तो यह है कि विकासशील राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में अस्थिरतायें इतनी अधिक हैं कि इनके प्रति अनावश्यक जागरूकता तर्क संगत नहीं है।

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में कई कमियों के बावजूद राजनीतिक व्यवहारों के बारे में सुनिश्चित स्पष्टीकरण एवं व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया है। तुलनात्मक राजनीति में नये प्रतिमानों का प्रचलन करके नये दृष्टिकोण प्रतिपादित किये गये। वस्तुतः आधुनिक तुलनात्मक अध्ययनों ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन में रूचि बढ़ाई है।

3.7 सारांश

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की सबसे प्रमुख विशेषता व्यवहारवादी अध्ययन दृष्टिकोण को स्वीकार करना है। व्यवहारवाद राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या एवं विश्लेषण को राजनीतिक व्यवहार पर केन्द्रित करता है। राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से यह राजनीति उसकी संरचनाओं प्रक्रियाओं आदि के बारे में वैज्ञानिक व्याख्यायें प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। दूसरी ओर इसमें अन्तर अनुशासनात्मक शोध एवं विश्लेषण पर बल दिया जाता है। यह अनुभवात्मक एवं क्रियात्मक है तथा इसमें व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों, मानकीय विवरणों, कल्पनाओं आदि का स्थान नहीं है। इस दृष्टि से यह आधुनिक तुलनात्मक राजनीति को अधिक वैज्ञानिक बनाता है तथा परम्परागत राजनीति को सर्वथा अलग कर देता है। आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में कई कमियों के बावजूद राजनीतिक व्यवहारों के बारे में सुनिश्चित स्पष्टीकरण एवं व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया है। तुलनात्मक राजनीति में नये प्रतिमानों का प्रचलन करके नये दृष्टिकोण प्रतिपादित किये गये। वस्तुतः आधुनिक तुलनात्मक अध्ययनों ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन में रूचि बढ़ाई है।

3.8 शब्दावली

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.G.A. Almond and G. B. Powell, Comparative Politics : A Developmental Approach, (1972), p. 5.

2.डॉ. सी. बी. गेना, पूर्वोक्त, p103.

3.G.K. Roberts. 'Comparative Politics, Today Government and Opposition, Vol., VII No. 1. Winter, 1972, p. 38.

3.11 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1.कम्पेरेटिव पॉलिटिक्सः ए डेवलेपमेन्टल एप्रोच, ऑमण्ड एवं पॉवेल

2.कम्यूनिकेशन एण्ड पॉलिटिकल डेवलेपमेन्ट, लूसियन पाई

3.मॉडर्न पॉलिटिकल थ्योरी, एस0 पी0 वर्मा

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागम की विशेषताओं की विवेचना कीजिये |

इकाई 4 - संविधान और संविधानवाद

इकाई की रुपरेखा

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 संविधान और सांविधानिक सरकार

4.4 संविधानवाद का उद्भव एवं विकास

4.5 संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ

4.6 संविधानवाद की अवधारणाएँ

4.7 संविधानवाद की समस्याएँ

4.8 सारांश

4.9 शब्दावली

4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

संविधानवाद एक व्यापक अवधारणा है, जिसे संविधान या सांविधानिक सरकार का पयार्यवाची समझना उचित नहीं है। प्रारंभ से ही मनुष्य सामाजिक या राजनीतिक संगठन में रहता आया है। अरस्तू के मतानुसार मनुष्य एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में सामाजिकता का तत्त्व बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों राजनीतिक संगठन की उपयोगिता भी बढ़ती जा रही है। एक ओर मनुष्यों में राजनीतिक संगठन के अंतर्गत रहने की प्रवृत्ति रही है तो दूसरी ओर वे स्वतंत्रता के लिए अधिक-से-अधिक चिंतित रहे हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राजनीतिक सत्ता के बीच संघर्ष का इतिहास समाज व राज्य की उत्पत्ति के साथ ही प्रारंभ हुआ। राजनीतिक संगठन में रहते हुए व्यक्ति इस बात के लिए सतत प्रयत्नशील रहा है कि सरकार स्वेच्छाचारी या अधिनायकवादी न बन जाए। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब तानाशाही तथा स्वेच्छाचारी सरकारों ने नागरिकों की स्वतंत्रता का अपहरण करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। फलस्वरूप, यह प्रयास किया जाने लगा कि किसी ऐसे राजनीतिक संगठन की स्थापना की जाए, जिसके अंतर्गत शासकों की शक्ति नियंत्रित तथा मर्यादित रहे और वे उनका सदुपयोग करें, न कि दुरूपयोग। संविधानवाद का इतिहास तथा पृष्ठभूमि यहीं से प्रारंभ होती है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- संविधान और सांविधानिक सरकार की आवश्यकता को बता सकेंगें।
- संविधानवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन कर सकेंगे।
- संविधानवाद की अवधारणाएँ की व्याख्या कर सकेंगे।
- संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ के बारे में विवेचना कर सकेंगे।

4.3 संविधान और सांविधानिक सरकार

संविधानवाद किसे कहते हैं, यह प्रश्न तो सरल है, परंतु इसक उत्तर उतना सरल नहीं है। संविधानवाद की कोई निश्चित तथा स्पष्ट परिभाषा नहीं दी जा सकती। संविधानवाद को समझने के लिए संविधान को समझना आवश्यक है। प्रत्येक राज्य में एक संविधान होता है, भले ही वह राज्य लोकतांत्रिक हो या स्वेच्छाचारी। सामान्यतः, संविधान का अभिप्राय एक ऐसे आलेख से होता है, जो निश्चित समय में निर्मित व स्वीकृत हो। कई विद्वानों ने संविधान की इस परिभाषा पर आपत्ति व्यक्त की है। उन्होंने कहा है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि संविधान लिखित ही हो। संविधान का अर्थ समझने के क्रम में सांविधानिक सरकार का अर्थ समझ लेना भी आवश्यक हो जाता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि जहाँ संविधान हो, वहाँ सांविधानिक सरकार हो। अधिनायकवादी तथा स्वेच्छाचारी शासन-व्यवस्थाओं में भी संविधान होता है, परंतु उस सरकार को सांविधानिक सरकार नहीं कहा जा सकता। हिटलर तथा मुसोलिनी की सरकारों को संविधान रहने के बावजूद सांविधानिक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वहाँ शासन का आधार संविधान नहीं था,वरनउन अधिनायकों एवं तानाशाहों की इच्छाएँ और आकांक्षाएँ थीं। अतः राज्य में केवल संविधान के होने मात्र से सरकार सांविधानिक नहीं बन जाती। केवल वह सरकार ही सांविधानिक सरकार कही जाएगी, जो संविधान पर आधृत हो तथा संविधान द्वारा सीमित और नियंत्रित हो।

4.4 संविधानवाद का उद्भव एवं विकास

संविधानवाद की उत्पत्ति और विकास का एक क्रमिक इतिहास है। संविधानवाद को सही रूप से वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए इसके विकास के इतिहास को जानना अत्यावश्यक है। संविधानवाद के विकास का इतिहास राजनीतिक संस्थाओं के विकास के इतिहास से जुड़ा हुआ है। संविधानवाद की उत्पक्ति की एक निश्चित तिथि की ओर इंगित करना कठिन है, फिर भी उस सामान्यकाल का संकेत प्राप्त हो सकता है जहाँ से संविधानवाद एक अवधारणा के रूप में प्रचलित हुआ।

संविधानवाद की उत्पत्ति के संबंध में प्राचीन यूनान के एथेंस नगर का नाम लिया जा सकता है। कहा जाता है कि ईसा के पूर्व 624 से लेकर 724 तक की अवधि में संविधानवाद का जन्म हुआ। इसी काल में संविधानों का प्रणयन हुआ। राज्य के स्वरूप, व्यवस्था तथा इसके कार्यचालन को नियमित करने के लिए नियमों एवं सिद्धांतो का निर्धारण हुआ। यूनानी राजनीतिक चिंतकों ने राज्य-व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करने के क्रम में संविधानवाद की भी बीज बोया। यूनान की धरती पर उत्पन्न और अंकुरित संविधानवाद की टहनियाँ विश्व के दूसरे-दूसरे देशों में ले जाई गईं। शनैः-शनैः संविधानवाद प्रस्फुटित होता गया और अन्य देशों में इसकी जड़ें जमती गईं।

संविधानवाद के जन्म से लेकर आज तक के इतिहास को एक काल या एक चरण में नहीं रखा जा सकता। अनेक चरणों तथा अनेक कालों से गुजरता हुआ संविधानवाद का वर्तमान काल में पदार्पण हुआ। अध्ययन की सुविधा के लिए संविधानवाद के विकास के इतिहास को निम्नलिखित कालों या चरणों में बाँटा जा सकता है। यूनानी संविधानवाद के संबंध में सबसे पहली बात यह कही जा सकती है कि यूनानियों ने राजनीतिक पृथकतावाद के सिद्धांत को अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना था। उन्होंने नगर-राज्य की स्थापना की थी, जिसके अंतर्गत नागरिकता कुछ ही लोगो तक सीमित थी। दास, श्रमिक, औरतों तथा अन्य कई ऐसे वर्ग थे, जिन्हें नागरिकता से वंचित रखा गया था।

नगर-राज्य व्यवस्था के पतन तथा रोमन साम्राज्य की स्थापना के बीच की अवधि में राजनीतिक एवं सांविधानिक स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए। राज्य के साथ-साथ व्यक्ति को भी प्रधानता मिली। नीति और राजनीति का पृथक्करण हो गया। रोमन संविधानवाद ने एक साथ दो सिद्धांत को मान्यता दीः-

(1) सम्राट की इच्छा को कानूनी शक्ति प्राप्त है।

(2) सम्राट की शक्तियों का स्त्रोत जनता है।

रोमन साम्राज्यवाद के पतन के बाद सामंतवाद का उदय हुआ। मध्यकाल सामंतवाद चर्च की प्रधानता के सिद्धांत के साथ जुड़ा हुआ माना जाता है। यूरोप में छोटे-छोटे अनेक सामंतवादी राज्यों की स्थापना हुई। राजनीतिक विचारकों के मतानुसार मध्यकाल 'राज्यविहीन' व्यवस्था का प्रतीक था। मध्यकाल के प्रथम चरण में चर्च की प्रभुता रही, परंतु उत्तरार्द्ध में सम्राटों ने चर्च की प्रधानता को चुनौती दी। इस अवधि में ब्रिटेन, फ्रांस तथा स्पेन की आंतरिक राजनीति में आधुनिक राज्य का बीजारोपण हो गया, जबकि जर्मनी और इटली पर वर्षों तक पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रभाव बना रहा। फ्रांस में स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के नारों ने निरंकुश राज्य पर प्रहार किया, जिसके परिणामस्वरूप संविधानवाद के नए आयामों का जन्म हुआ। पुनर्जागरण काल में मानवीय एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का जन्म हुआ। कला, साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्र में नए आयाम जुड़े तथा नए मूल्यो का जन्म हुआ। इस काल में असीमित राजतंत्र की स्थापना हुई। कई विद्वानों के अनुसार पुनर्जागरण काल में असीमित राजतंत्र के कारण संविधानवाद का विकास अवरूद्ध हो गया था।

संविधानवाद के उद्भव और विकास के इतिहास का अवलोकन करने के बाद हमारे सम्मुख कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम, संविधानवाद द्वारा सांविधानिक ढंग से शासन-संचालन की प्रक्रिया की अनुशंसा की गई। दूसरे शब्दों में, शासन-संचालन का आधार विधि का शासन हो। व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की इच्छाओं और आकांक्षाओं को शासन का आधार नहीं होना चाहिए। द्वितीय, संविधानवाद में तीन तत्त्व निहित हैं। राष्ट्रवाद, लोकतंत्र तथा स्वशासन। तृतीय, शासन की सत्ता जनता में ही निहित होनी चाहिए। चतुर्थ, संविधानवाद के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीयता विश्व के देशों के बीच मैत्री और सद्भाव पर टिकी होती है। संविधानवाद वस्तुतः आज भी विकास की अवस्था में ही है। आज भी इस संबंध में नए-नए प्रयोग हो रहे हैं। तृतीय विश्व कहलानेवाले देशों में आज भी संविधानवाद का स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया है। इसके सम्मुख अनेक चुनौतियाँ हैं, अनेक बाधाएँ हैं। एक ओर इसे पाश्चात्य लोकतंत्र से बल मिल रहा है तो दूसरी ओर इसे साम्यवाद से खतरा भी पैदा हो रहा है। यद्यपि साम्यवाद को संविधानवाद के मॉडेल के रूप में माना गया है, तथापि अनुभव इस बात साक्षी है कि साम्यवादी व्यवस्था संविधानवाद के विकास के अनुकूल नहीं हो पा रही है। इन देशों में साम्यवादी दल संविधानेतर स्तर पर भूमिका अदा कर संविधानवाद की आत्मा पर आघात कर रहा है।

4.5 संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ

संविधानवाद की व्याख्या के क्रम में संविधानवाद की कुछ विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। यहाँ उन विशेषताओं का उल्लेख किया जाना आवश्यक है:-

(1.)संविधानवाद मूल्य-संबद्ध अवधारणा है- संविधानवाद उन मूल्यों, विश्वासों तथा राजनीतिक आदर्शों की ओर संकेत करता है, जो राष्ट्र और समाज को प्रिय हैं और जिनकी रक्षा, प्राप्ति तथा आवश्यक प्रगति के लिए समाज हर

प्रकार का त्याग एवं कुर्बानी कर सकता है। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से ये विचार एवं आदर्श अभिजनों द्वारा प्रदान किए जाते हैं, परंतु अंततोगत्वा ये विचार एवं आदर्श व्यवहार में विचारशील वर्ग द्वारा जनता तक पहुँचाए जाते हैं।

(2.)संविधानवाद संस्कृति-संबद्ध अवधारणा है- किसी भी देश के मूल्य, आदर्श एवं विचार वहाँ की संस्कृति से संबद्ध या जुड़े हुए होते हैं। वे वस्तुतः संस्कृति की उपज हैं। इस दृष्टिकोण से संविधानवाद भी संस्कृति से संबद्ध रहता है। यदि किसी राजनीतिक समाज में संस्कृति में विविधता या भिन्न्ता पाई जाती है तो यहाँ संविधानवाद विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय-सूचक माना जाता है।

(3.)संविधानवाद गत्यात्मक अवधारणा है- संविधानवाद की यह एक मुख्य विशेषता है कि यह एक गत्यात्मक अवधारणा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि संविधानवाद में स्थिरता है ही नहीं। राजनीतिक विकास के लिए गत्यात्मकता एवं स्थायित्व दोनों आवश्यक हैं। संविधानवाद को स्थायित्वयुक्त गत्यात्मक अवधारणा कहना ज्यादा युक्तिसंगत होगा। संविधानवाद पुराने मूल्यों तथा आदर्शों का संकेत तो है ही, यह एक नए मूल्यों एवं विचारों के निर्माण प्राप्ति का भी साधन है। इसी दृष्टि से इसे गत्यात्मक अवधारणा कहा जाता है।

(4.)संविधानवाद सहभागी अवधारणा है- ऐसा देखा गया है कि एक राष्ट्र के मूल्यों, विश्वासों, राजनीतिक आदर्शों तथा संस्कृति के प्रति कई अन्य राष्ट्रों की निष्ठा या आस्था हो सकती है। कई देशों के मूल्य, संस्कृति तथा राजनीतिक आदर्श एकसमान हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, अनेक पाश्चात्य देशों के मूल्यों, विश्वासों तथा राजनीतिक आदर्शों में समानता पाई जाती है। विकासशील लोकतांत्रिक देशों में यद्यपि कई मुख्य असमानताएँ परिलक्षित होती हैं, तथापि स्थूल रूप से संविधानवाद एस-सा ही कहा जा सकता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि संविधानवाद एक सहभागी अवधारणा है।

(5.)साध्यमूलक अवधारणा- संविधानवाद को एक साध्यमूलक अवधारणा के रूप में भी लिया गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि संविधानवाद में साधनों की उपेक्षा की गई है। कोई भी साध्य साधन के बिना संभव नहीं है। इस संदर्भ में हम इतना कह सकते हैं कि संविधानवाद प्रधानतः एक साध्यमूलक अवधारणा है, जिसमें साधनों को स्थान गौण है।

(6.)संविधानजन्य अवधारणा- संविधानवाद संविधानजन्य अवधारणा है। सामान्यतः हर देश के संविधान में वहाँ की आस्थाओं का उल्लेख रहता है। मूल्यों एवं राजनीतिक आदर्शों से युक्त संविधान संविधानवाद की आधारशिला है, जिस पर संविधानवाद की नींव टिकी रहती है।

4.6 संविधानवाद की अवधारणाएँ

संविधानवाद को किसी एक विचारधारा के अंतर्गत बाँधना उचित नहीं है। कई पाश्चात्य राजनीतिक चिंतकों ने संविधानवाद की एक ही अवधारणा को मान्यता दी है। उनके अनुसार उदार लोकतंत्रीय अवधारणा की संविधान की अवधारणा है। यह मत युक्तिमूलक नहीं कहा जा सकता है। संविधानवाद राजनीतिक समाज के आदर्शों, लक्ष्यों, विश्वासों एवं मूल्यों को परिलक्षित करता है। प्रत्येक राजनीतिक समाज के लक्ष्य, आदर्श एवं विश्वास अलग-अलग होते हैं, इसलिए संविधानवाद की एक अवधारणा की मान्यता सही नहीं है। संविधानवाद के संबंध में अब तक जो अवधारणाएँ उपजी है, उन्हें निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है:-

(1) पाश्चात्य अवधारणा

(2) साम्यवादी देशों की अवधारणा और

(3) विकासशील देशों की अवधारणा।

पाश्चात्य अवधारणा

संविधान की पाश्चात्य अवधारणा इस बात का प्रतिपादक है कि संविधानवाद साध्य भी है और साधन भी। यह मूल्यविहीन तथा मूल्यजन्य दोनों है। कोई भी संविधान आदर्श एवं लक्ष्यों से परे नहीं होता है, इसलिए संविधानवाद को मूल्यविहीन कहना उचित नहीं है। पाश्चात्य अवधारणा के अनुसार संविधानवाद केवल सरकार के अंगों के संगठन एवं शक्तियों का ही उल्लेख नहीं करता,वरनस्वतंत्रता, समानता, न्याय तथा अधिकारों को भी यथोचित महत्त्व देता है।

संविधानवाद का मुख्य लक्ष्य वैसे मूलभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन करना है, जिसके अंतर्गत संविधान और सरकार के बीच के अंतर स्पष्ट रूप से परिलक्षित हों। संविधानवाद सरकार को अपने आदर्शों एवं लक्ष्यों के अनुरूप काम करने के लिए आवश्यक व्यवस्था करता है। यही कारण है कि शासन-संचालन को नियमित करने के लिए संविधान विभिन्न प्रकार के अवरोधों और प्रतिबंधों की व्यवस्था करता है। ये प्रतिबंध सरकार की असीमित एवं स्वेच्छाचारी शक्तियों पर नियंत्रण रखते हैं। सारतः संविधानवाद की पाश्चात्य अवधारणा एक ऐसे सांविधानिक राज्य की स्थापना करना चाहती है, जो स्थापित एवं मान्य विधि के सिद्धांतों और अभिसमयों की सीमा के अंतर्गत काम करें। यदि संविधान या सरकार में परिवर्तन होना हो तो वह शांतिपूर्ण ढंग से हो। पाश्चात्य संविधानवाद को 'उदारवाद का दर्शन' कहा जाता है।

साम्यवादी अवधारणा

संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा मार्क्स तथा लेनिन की विचारधारा पर आधृत है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य एक शोषण-यंत्र है, जिसके द्वारा पूँजीपतिवर्ग सर्वहारावर्ग या श्रमिकों का शोषण करते हैं। इसी विचारधारा से प्रभावित सोवियत संविधानवाद के प्रवर्तकों का यह मत है कि संविधान एक साधन मात्र है, जिसका उद्देश्य समाजवादी विचारधारा को लागू करना है। संविधान सर्वहारावर्ग एवं साम्यवादी पार्टी का उपकरण है, जिसके द्वारा रूस या चीन में वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना की जा सके। सोवियत रूस, चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों में संविधान का उद्देश्य सरकार की शक्तियों को सीमित करना नहीं,वरनउसमें विस्तार करना है।

साम्यवादी राज्यों में पार्टी का प्रभुत्व रहता है। इन देशो में एकदलीय पद्धति है। साम्यवादी पार्टी सर्वहारावर्ग का संरक्षक एवं प्रतिपालक मानी जाती है। इन देशों में पार्टी की प्रधानता सर्वोच्च है। संविधान गौण है। संविधान का उद्देश्य केवल पार्टी को साम्यवादी लक्ष्यों को पूरा करने में सहायता प्रदान करना है। साम्यवादी देशों में सोवियत व्यवस्था ही प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया गया है। चीन और सोवियत रूस के बीच विचारधाराओं की भिन्नता का संकेत है। कुछ पूर्वी यूरोप के राज्यों में भी सोवियत रूस तथा चीन से भिन्न राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की गई है। इन भिन्नताओं के बावजूद सोवियत रूस ही साम्यवादी देशों का प्रतिमान है, मॉडेल है।

साम्यवादी विचारकों ने पाश्चात्य संविधानवाद की भर्त्सना की है। उनके मतानुसार पाश्चात्य देशों में सरकार और संविधान शोषण के यंत्र हैं। संसदीय शासन-प्रणाली लोकतंत्र के नाम पर छलावा है। उनका कहना है कि साम्यवादी

व्यवस्था वास्तविक रूप में लोकतांत्रिक व्यवस्था है, क्योंकि यहाँ समस्त सर्वहारावर्ग शासन-प्रबंध में सहयोगी है। दूसरी ओर पाश्चात्य विचारकों का यह मत है कि साम्यवादी देश संविधानवाद के अनुकूल नहीं है, क्योंकि यहाँ पार्टी का अधिनायकवाद है। यहाँ संपूर्ण शासन-व्यवस्था पर पार्टी का अधिनायकवाद है।

यह सत्य है कि पश्चिमी देशों की तरह साम्यवादी देश संविधानवाद के लिए अनुकूल वातावरण तैयार नहीं कर पाए हैं, परन्तु आज साम्यवादी देशों को संविधानवाद के इतिहास के पृष्ठों से निकाल फेंकना भी संभव नहीं। लोकतंत्र के झंडे को ऊँचा उठानेवाले पाश्चात्य देश भी यह दावा नहीं कर सकते कि वहाँ शासन-व्यवस्था में अधिक-से-अधिक लोग भाग लेते हैं। आम चुनावों को छोड़कर अधिकांश अवसरों पर कुछ ही लोग निर्णयकारी प्रक्रिया में भाग लेते हैं।

विकासशील देशों में संविधानवाद की अवधारणा

विकासशील देशों में संविधानवाद के स्वरूप की कोई निश्चित पहचान नहीं बनी है। यहाँ संविधानवाद प्रयोगात्मक अवस्था में है। तृतीय विश्व के देशों की समस्याएँ भिन्न-भिन्न हैं। साथ-ही-साथ उनमें परिपक्वता का भी अभाव है। कुछ देश पाश्चात्य संविधानवाद से प्रभावित दिख पड़ते हैं। कुछ देशों पर साम्यवादी व्यवस्था की छाप दिखाई पड़ती है। कुछ देशों में उथल-पुथल के कारण सैनिक शासन स्थापित हो गया है।

4.7 संविधानवाद की समस्याएँ

संविधानवाद आज इस विकसित और उन्नत अवस्था में पहुँच गया है कि इसके नष्ट होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसका भविष्य भी अंधकारमय नहीं। परंतु, यह भी मान लेना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता कि संविधानवाद का मार्ग कंटकमुक्त है। आज विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर इतने उतार-चढ़ाव हो रहे हैं कि यदा-कदा ऐसा लगता है कि संविधान का भविष्य खतरे में है। जिस ढंग से तृतीय विश्व के देशोंमेंसैनिक शासनों की स्थापना हो रही है, उससे कभी कभी संविधानवाद के स्वास्थ्य के संबंध में आशंकाओं का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं लगता। संविधानवाद के सम्मुख कई समस्याएँ हैं, कई चुनौतियाँ हैं। जब तक इन समस्याओं का सही ढंग से निराकरण नहीं हो पाता, तब तक संविधानवाद का भविष्य आशंकाओं और दुष्यंताओं के झूले में झूलता रहेगा।

अभ्यास प्रश्न

1.“सरकार के निरंकुश कार्यों को सीमित करना संविधान का कार्य है।“ यह विचार किस लेखक का है।

2.कौन-सा विचारक पाश्चात्यक राजनीतिक चिंतन में संविधानवाद् का जनक माना जाता है।

4.8 सारांश

यह सत्य है कि समाजवादी विचारधारा के अंतर्गत कुछ ऐसे तत्त्व हैं। जिनसे संविधानवाद के लिए समस्याएँ पैदा हो सकती है। परंतु, आधुनिक संदर्भ में समाजवाद को संविधानवाद का विरोधी नहीं माना जाता है। आज के युग की तीन मुख्य अवधारणाएँ हैं-राष्ट्रवाद, समाजवाद और लोकतंत्र। संविधानवाद की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि किस सीमा तक इसके अंतर्गत इन धारणाओं का समावेश किया जाता है और इनके बीच समन्वय स्थापित किया जाता है। इंगलैंड के संविधान में फेबियनवाद को स्थान दिया गया है। भारतीय संविधान ने भी लोकतांत्रिक

समाजवाद के लिए आधार तैयार किया है। अतः, आधुनिक संविधानवाद को भी नई आर्थिक व्यवस्थाओं को स्थान एवं महत्त्व देना होगा।

समाजवाद-संविधानवाद समीकरण का अतीत भले ही निराशाजनक रहा हो, दोनों में कितनी ही भिन्नता रही हो, आज समाजवाद के सिद्धांतों को लोकतंत्र तथा संविधानवाद के सिद्धांतों से मिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। आज यह नहीं कहा जा सकता कि सोवियत रूस में संविधानवाद असफल हो गया है या नष्ट हो गया है। सोवियत रूस में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना हुए साठ वर्ष हो गए, परंतु वहाँ के लोगों में इस व्यवस्था के प्रति न तो असंतोष है और न ही गंभीर विरोध। पाश्चात्य लोकतंत्र के साथ संविधानवाद को मिला देना उचित नहीं है। लोकतंत्र के अनेक प्रतिमान हो सकते हैं। यह सत्य है कि लोकतंत्र संविधानवाद के विकास के लिए ज्यादा अनुकूल है, परंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि समाजवाद लोकतंत्र का शत्रु है। आज साम्यवादी देशों में संविधानवाद अपने ढंग से बढ़ रहा है। अतः, आज के संदर्भ में समाजवाद को संविधानवाद का विरोधी कहना उचित नहीं है।

4.9 शब्दावली

1.संविधानवाद-संविधानवाद उन मान्यताओं, आस्थाओं तथा मानव मूल्यों का नाम है, जिनका संविधान में वर्णन तथा समर्थन होता है और जिनकी उपलब्धि तथा सुरक्षा हेतु राजनीतिक शक्ति पर प्रभावशाली नियंत्रणों एवं प्रतिबंधों की व्यवस्था होती है।

2.संविधान- वह विधान, कानून या सिद्धांत जिसके अनुसार किसी राज्य, राष्ट्र या संस्था का संघटन, संचालन तथा व्यवस्था होती है।

3.कानून का शासन- इसका अर्थ है कि कानून सर्वोपरि है तथा वह सभी लोगों पर समान रूप से लागू होती है।

4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11
2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13
3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

4.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory
2. Robert Dahl: A preface to democratic theory
3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics
4. K.C. Wheare: Modern Constitution

4.12अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. स्ट्रांग,2. अरस्तू

4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संविधानवाद से क्या समझते हैं ? उसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।
2. संविधानवाद के मुख्य आधारों का उल्लेख कीजिए तथा संविधान एव संविधानवाद के बीच अन्तर बताइए।
3. संविधानवाद के उद्भव एवं विकास का अनुरेखण करें।
4. संविधानवाद की मुख्य अवधारणाओं का उल्लेख करें।

इकाई 5-व्यवस्थापिका- एक सदनीय, द्विसदनीय, व्यवस्थापिका का पतन

इकाई की रुपरेखा

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 व्यवस्थापिका: संगठन एवं कार्य

5.4 एकसदनात्मक व्यवस्थापिका

5.5 द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका: गुण एवं दोष

5.6 व्यवस्थापिका के कार्य

5.7 राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका की भूमिकापतन के कारण

5.8 सारांश

5.9 शब्दावली

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.13निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

सरकार राज्य का एक प्रमुख तत्त्व है अर्थात हम कह सकते है कि राज्य की कल्पना सरकार के बिना नहीं की जा सकती। सरकार के कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जहां तक व्यवस्थापिका का संबंध है तो इसका प्रमुख कार्य देश के लिए कानूनों का निर्माण करना होता है जिसके आधार पर शासन व्यवस्था का संचालन किया जाता है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- सरकार के प्रमुख अंगों में व्यवस्थापिका के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
- व्यवस्थापिका के संगठन एवं कार्यों के बारे में विस्तार से अध्ययन सामग्री प्राप्त कर सकते हैं।
- व्यवस्थापिका के पतन के क्या कारण हैं उसका भी तुलनात्मक अध्ययन प्राप्त किया जा सकता है।

5.3 व्यवस्थापिका: संगठन एवं कार्य

सरकार के तीन अंग हैं-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से व्यवस्थापिका तीनों अंगों में सर्वोच्च है। व्यवस्थापिका का कार्य है-विधिनिर्माण करना। तुलनात्मक राजनीति की आधुनिक शब्दावली के अंतर्गत व्यवस्थापिका के स्थान पर नियम-निर्माण विभाग का प्रयोग किया जाता है।

व्यवस्थापिका के संगठन के कई आधार है। अलग-अलग देश मेंव्यवस्थापिका के संगठन के लिए अलग-अलग आधार अपनाया जाता है। कुछ देशों में व्यवस्थापिका का संगठन प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है तथा कुछ देशों में व्यवस्थापिका का संगठन अप्रत्यक्ष रूप से होता है। आमतौर से द्वितीय सदन के संगठन का आधार अप्रत्यक्ष होता है।

आधुनिक युग में व्यवस्थापिका के निर्वाचन का आधार राजनीतिक दल है। राजनीतिक दलों के आधार पर ही व्यवस्थापिका का संगठन होता है।व्यवस्थापिका के संगठन में उम्र, लिंग, स्थान आदि तत्त्वों को भी ध्यान में रखा जाता है। आमतौर से विश्व के अधिकांश देशो में प्रथम सदन के संगठन में वयस्क मताधिकार को ही आधार माना जाता है। कुछ विशेष प्रकार के हितों तथा अल्पसंख्यकों को मान्यता देने के लिए कुछ विशेष प्रकार की व्यवस्थाएँ अपनाई जाती है, जैसे आरक्षण, मनोनयन आदि।

व्यवस्थापिका के संगठन का विश्लेषण करने के क्रम में एकसदनात्मक एवं द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का उल्लेख करना आवश्यक है।

5.4 एकसदनात्मक व्यवस्थापिका

जिस व्यवस्थापिका में एक सदन हो उसे एकसदनात्मक व्यवस्थापिका कहा जाता है। अनेक विद्वानों का मत है कि एकसदनात्मक व्यवस्थापिका ही लोकतंत्र के लिए उपयुक्त है। फ्रांस के विद्वान विधिवेत्ता ऐबे सिएज के कथनानुसार द्वितीय सदन एक अनावश्यक सदन है। उसने द्वितीय सदन की अनुपयोगिता की चर्चा करते हुए कहा है, "द्वितीय सदन यदि प्रथम सदन से सहमति व्यक्त करता है तो यह अनावश्यक है और यदि असहमति व्यक्त करता है तो शैतानी करता है" सिएज ने यह भी कहा है कि कानून लोगों की इच्छा का फल है। लोग एक ही समय में एक ही विषय पर दो भिन्न इच्छाएँ नहीं कर सकते।

फ्रांस और इंगलैंड में क्रमशः 1891 तथा 1651 ई0 में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका अपनाने का प्रयोग किया गया था, परंतु कई कारणों से वह प्रयोग सफल नहीं हो सका।

एकसदनात्मक व्यवस्थापिका की उपयोगिता के संबंध में यह कहा जाता है कि यह लोकतंत्र के अनुकूल है तथा इसके अंतर्गत दो सदनों के बीच पारस्परिक संघर्ष या तनाव का वातावरण नहीं रहता। आज अधिकांश विद्वानों की यह मान्यता है कि कई दृष्टियों से द्विसदनात्मक व्यवस्था ज्यादा उपयुक्त और उपयोगी है। आज यद्यपि चीन, यूनान, इस्टोनिया, युगोस्लाविया तथा कुछ अन्य देशों में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका बनी हुई है, तथापि अधिकांश देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका को ही स्थान दिया गया है।

5.5 द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका: गुण एवं दोष

दो सदनों वाली व्यवस्थापिका को द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका कहा जाता है। आज विश्व के अधिंकाश देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का प्रावधान किया गया है। कई विद्वान यह मानते हैं कि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका इंगलैंड की देन है। विलोबी ने कहा है, "यदि ब्रिटिश संसद द्विसदनात्मक न होती तो शायद विश्व के अन्य विधानमंडल भी द्विसदनात्मक नहीं होते।" पोलॉस्की नामक विद्वान ने कहा है, "यह केवल ऐतिहासिक संयोग की बात है कि इंगलैंड की व्यवस्थापिका द्विसदनात्मक थी और अन्य देशों ने उसी का अनुसरण किया।"

जिन देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था है, वहाँ एक सदन को प्रथम सदन तथा दूसरे को द्वितीय सदन कहा जाता है। प्राचीन काल में द्वितीय सदन को उच्च सदन कहा जाता था। प्रथम सदन लोकप्रिय सदन होता है तथा द्वितीय सदन विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन है। इंगलैंड की लार्ड्स सभा वहाँ के उच्च घराने के लॉर्डो एवं पियरों का प्रतिनिधित्व करती है। संघात्मक शासन-व्यवस्था के अंतर्गत द्वितीय सदन राज्यों या संघ की ईकाईयों का प्रतिनिधित्व करता है।

उच्च सदन या द्वितीय सदन की रचना में भी भिन्नता पाई जाती है। इंगलैंड में लॉर्ड्स सभा के संगठन का आधार वंश परंपरानुगत सिद्धांत है, अमेरिका, ब्राजील, आस्ट्रेलिया, पॉलैंड द्वितीय सदन प्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित होता है। भारत में द्वितीय सदन अप्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित होता है तथा इसके कुछ सदस्य मनोनीत भी होते है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण

प्रत्येक व्यवस्था की तरह द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में भी गुण-दोष पाए जाते हैं। हम सर्वप्रथम इसके गुणों का वर्णन करेंगे।

1.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत द्वितीय सदन प्रथम सदन की निरंकुशता पर रोक के रूप में काम करता है। यदि एक ही सदन हो तो वह मनमाने ढंग से जन विरोधी कानून भी पारित कर दे सकता है। लिकॉक के कथनानुसार, "एकसदनात्मक व्यवस्थापिका निरंकुश तथा अनुत्तरदायी होती है तथा भावनाओं के प्रवाह में बह जाती है।" जे0 एस0 मिल ने भी कहा है, "द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का प्रावधान होना चाहिए जिससे कोई भी सदन असीमित शक्तियों के दूषित प्रभाव का शिकार न हो।"

2.आमतौर से प्रथम सदन जल्दबाजी में विधिनिर्माण के क्रम में अनेक प्रकार की भूलें या गलतियाँ कर देता है, जिनका सुधार द्वितीय सदन के द्वारा किया जाता है। लेकी ने कहा है, "द्वितीय सदन कानून पर सुधारात्मक, रोकात्मक तथा क्रमबद्धात्मक प्रभाव डालता है।"

3.लोकप्रिय सदन में, प्रत्यक्ष निर्वाचित सदस्य होने के कारण, अधिकांश सदस्यों को कानूनी भाषा का पूर्ण ज्ञान नहीं रहता जिसके कारण प्रथम सदन द्वारा पारित विधेयकों में भाषा की अनेक अशुद्धियाँ रह जाती हैं, जिसे द्वितीय सदन में दूर करने का प्रयास किया जाता है।

4.एकसदनात्मक व्यवस्थापिका में विशेष हितों का प्रतिनिधित्व संभव नहीं है, क्योंकि इसके अंतर्गत सदन का संगठन प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत द्वितीय सदन में विशेष हितों का प्रतिनिधित्व आसानी से हो सकता है।

5.कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिनकी सेवा या योगदान की व्यवस्थापिका को आवश्यकता होती है, परंतु वे लोग चुनाव लड़कर लोकप्रिय सदन में नहीं आ सकते। भारत में जिस ढंग से तथा जिस आधार पर चुनाव संपन्न होता है, अधिकांश अच्छे लोग बलवती इच्छा एवं योग्यता रहने के बावजूद चुनाव नहीं लड़ सकते हैं। उस स्थिति में द्वितीय सदनों के माध्यम से ही विशेषज्ञ एवं प्रबुद्ध लोग व्यवस्थापिका में स्थान पाते हैं।

6.एकसदनात्मक व्यवस्थापिका में एक सदन रहने के कारण विधि निर्माण तथा विधियों के संशोधन के संबंध में संपूर्ण भार एक ही सदन पर पड़ जाता है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत विधिनिर्माण-संबंधी कार्य दोनों सदनों में बँट जाने के कारण एक सदन पर कार्यभार अधिक नहीं रहता।

7.दो सदन रहने के कारण किसी भी विधेयक या विषय पर वाद-विवाद या विचार-विमर्श का व्यापक अवसर मिलता है। एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत किसी विषय या विधेयक पर वाद-विवाद या विचार-विमर्श का अवसर केवल एक ही सदन में रहता है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत वाद-विवाद या विचार-विमर्श दोनों सदनों में होने के कारण किसी भी विधेयक पर वाद-विवाद का व्यापक अवसर प्रदान किया जाता है।

8.संघात्मक शासन में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की विशेष उपयोगिता होती है। संघीय शासन के अंतर्गत द्वितीय सदन इकाईयों का प्रतिनिधित्व करता है। प्रथम सदन संपूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है।

9.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका लोकतंत्र के सिद्धांतों के उपयुक्त है, क्योंकि इसके अंतर्गत शक्तियों या अधिकारों का एक जगह जमाव नहीं हो सकता है। एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के अतंर्गत अधिकारों एवं शक्तियों का एक स्थल पर केंद्रित या जमाव होने के कारण लोकतंत्र के सिद्धांतों पर आघात पहुँचने की पूरी संभावना रहती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था एकसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था से श्रेष्ठ है। ब्लंश्ली ने कहा है, " इसमें संदेह नहीं कि एक आँख से दो आँखें अच्छी होती हैं।" गेटेल के कथनानुसार, "दो भवनों के रहने से विचार-विमर्श में सतर्कता एवं सुन्दर संतुलन तथा अधिक सावधानी से विश्लेषित एवं संगृहीत व्यवस्थापन की प्राप्ति होती है।" विश्व के अधिकांश देशों में द्वितीय सदन का अस्तित्व इसकी उपयोगिता का प्रतीक है।

दोष-

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के कुछ दोष हैं, जिनका उल्लेख किया जाना आवश्यक है-

1.प्रथम सदन लोकप्रिय सदन कहलाता है। इसका संगठन जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है। द्वितीय सदन का संगठन या तो प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है या मनोनयन के आधार पर। द्वितीय सदन द्वारा प्रथम सदन पर किसी भी प्रकार अंकुश लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत पर अंकुश कहा जा सकता है।

2.अनेक आलोचकों का यह मत है कि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत द्वितीय सदन के रहने से अनावश्यक व्यय होता है। कई विद्वानों का मत है कि द्वितीय सदन की कोई विशेष उपयोगिता नहीं होती है, इसलिए उस पर होने वाला व्यय अनावश्यक व्यय है।

3.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका पद्धति के अंतर्गत द्वितीय सदन को अमीरों तथा कुछ विशेष वर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन कहा जाता है। इंगलैंड की लॉडर्स सभा को 'धनवानों का गढ़' कहा जाता है।

4.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका पद्धति के अंतर्गत दोनों सदनों के बीच मतभेद या तनाव की स्थिति बनी रहती है। यही कारण है कि प्रत्येक देश के संविधान के अंतर्गत दोनों सदनों के बीच गत्यावरोध की स्थिति को दूर करने के लिए आवश्यक प्रावधान किए गए हैं।

5.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली के अंतर्गत किसी भी विधेयक को पारित होने में काफी समय लगता है, क्योंकि विधेयक की दो-दो सदनों से एक ही प्रकार की प्रक्रिया अपनाकर पारित किया जाता है। इस प्रकार द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली में समय और अर्थ का दुरूपयोग होता है।

6.आमतौर से द्वितीय सदन की बनावट का आधार अप्रत्यक्ष निर्वाचन या मनोनयन रहता है। यह व्यवस्था लोकतंत्र के सिद्धांत के प्रतिकूल है।

7.कई विचारक यह मानते हैं कि कानून के निर्माण के लिए दो सदनों का होना अत्यावश्यक है। द्वितीय सदन प्रथम सदन की गलतियों एवं त्रुटियों को दूर करता है। यह विचार आधुनिक युग में विशेष महत्व नहीं रखता। **प्रो0 लॉस्की** ने कहा है कि आज किसी विधेयक को कानून का रूप देने के लिए प्रथम सदन में लंबे अरसे तक विचार-विमर्श होता है, इसलिए आज के संदर्भ में कानून-निर्माण में द्वितीय सदन की विशेष उपयोगिता नहीं रह गई है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली के गुण-दोषों पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अनेक त्रुटियों के बावजूद आज अधिकांश देशोंमेंद्विसदनात्मक व्यवस्थापिका को मान्यता दी गई है। इसका गुणात्मक पक्ष इसकी कमजोरी या निषेधात्मक पक्ष से कहीं अधिक सशक्त है।

5.6 व्यवस्थापिका के कार्य

व्यवस्थापिका का गठन मूलतः विधिनिर्माण के लिए होता है, परंतु विधिनिर्माण के अतिरिक्त व्यवस्थापिका के अनेक कार्य हैं तथा इसकी शक्तियाँ भी व्यापक हैं। आधुनिक युग में राज्य का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र है, जहाँ व्यवस्थापिक का प्रभाव या संबंध नहीं हो। व्यवस्थापिका की शक्तियों एवं कृत्यों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जाता है-

1. विधिनिर्माण - व्यवस्थापिका का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य विधिनिर्माण है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विधायिका का संगठन विधिनिर्माण के लिए होता है। जनता की इच्छा को कानून के रूप में अभिव्यक्ति देने के लिए व्यवस्थापिका के अंतर्गत जनता के प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। कुछ बातों को छोड़कर कानून बनाने की प्रक्रिया सर्वत्र एक प्रकार की रहती है। अध्यक्षात्मक एवं संसदीय प्रणलियों में विधिनिर्माण की प्रक्रिया में भिन्नता पाई जाती है।

संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिपरिषद के किसी सदस्य के द्वारा ही सार्वजनिक विधेयक प्रस्तावित किए जाते हैं। विरोधी दल या निर्दलीय सदस्य द्वारा प्रस्तावित विधेयकों को गैरसरकारी विधेयक कहा जाता है। आम तौर से सरकारी सदस्यों द्वारा प्रस्तावित विधेयक ही कानून का रूप धारण करते हैं।

साधारण विधेयक द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग पारित होने के बाद विधेयक को राज्याध्यक्ष के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। आमतौर से राज्याध्यक्ष उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता है, परंतु कुछ स्थितियों में वह उसे पुनर्विचार के लिए व्यवस्थापिका के पास लौटा देता है। प्रत्येक सदन में विधि निर्माण के संबंध में तीन पठन होते हैं।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली के अंतर्गत किसी भी विधेयक के संबंध में दोनों सदनों के बीच गत्यवरोध की स्थिति को दूर करने के लिए अलग-अलग प्रावधान किए गए हैं। भारत में लोकसभा और राज्यसभा के बीच गत्यवरोध को दूर करने के लिए संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था की गई है। इंगलैंड में लार्ड्स सभा किसी विधेयक को एक वर्ष तक अपने पास रोक सकती है। एक वर्ष के बाद वह उसी रूप में पारित हो जाता है, जिस रूप में कॉमन्स सभा ने उसे पारित किया है। अमेरिका में साधारण विधेयकों के संबंध में प्रतिनिधि सभा और सिनेट के समान अधिकार हैं। दोनों सदनों द्वारा पारित होने के बाद ही कोई विधेयक कानून का रूप धारण कर सकता है।

इस संबंध में विशेष रूप से एक बात उल्लेखनीय है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधिनिर्माण में प्रमुख जिम्मेदारी कार्यपालिका की रहती है। सभी सार्वजनिक विधेयक मंत्रिपरिषद के सदस्य द्वारा प्रस्तावित किए जाते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधिनिर्माण में राष्ट्रपति या उसके मंत्रिमंडल के सदस्यों का हाथ नहीं रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिमंडल के सदस्य व्यवस्थापिका के किसी भी सदन के सदस्य नहीं होते।

2.कार्यपालिका पर नियंत्रण-व्यवस्थापिका का दूसरा प्रमुख कार्य कार्यपालिका पर नियंत्रण है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत व्यवस्थापिका निम्नलिखित ढंग से कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है-

(क)मंत्रिपरिषद के सदस्य सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(ख)व्यवस्थापिका सरकार की आलोचना कर सकती है, सरकारी नीति पर वाद-विवाद कर सकती है तथा सरकार के विरूद्ध निंदा का प्रस्ताव पारित कर सकती है।

(ग)व्यवस्थापिका के सदस्य मंत्रियों से उनके विभागों के बारे में आवश्यक प्रश्न पूछ सकते हैं।

(घ)व्यवस्थापिका के अंतर्गत राज्याध्यक्ष के अभिभाषण पर वाद-विवाद कर भी वह कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

(ङ)बजट में कटौती का प्रस्ताव पारित कर भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

(च)स्थगन प्रस्ताव के जरिए भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

(छ)सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावपूर्ण ढंग कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने का है, अविश्वास का प्रस्ताव। व्यवस्थापिका के प्रथम सदन को मंत्रिपरिषद के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने का अधिकार है। प्रथम सदन द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पारित किए जाने पर मंत्रिपरिषद अपदस्थ हो जाती है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण नहीं रखती है, फिर भी अध्यक्षातम्क शासन-प्रणाली के अतंर्गत नियंत्रण का स्वरूप कहीं अधिक प्रभावशाली है। अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों एवं संधि के प्रस्तावों पर सिनेट का अनुसमर्थन आवश्यक है। इस प्रकार, अमेरिका की सिनेट राष्ट्रपति के प्रतिद्वंद्वी के रूप में काम करती है।

अन्य शासन-प्रणालियों के अंतर्गत भी कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण रहता है।

3. वित्तीय कार्य-कार्यपालिका वित्तीय लेन-देन एवं संचालनों के लिए उत्तरदायी है, परंतु अंतिम रूप से व्यवस्थापिका कार्यपालिका के वित्तीय संचालनों पर नियंत्रण रखती है। हर देश में प्रतिवर्ष कार्यपालिका बजट के रूप में अपने आय-व्यय का विवरण व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत करती है। व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत होने के बाद ही कार्यपालिका टैक्स लगा सकती है तथा विभिन्न मदों पर व्यय कर सकती है। व्यवस्थापिका को बजट में कटौती करने का अधिकार प्राप्त है। अनुदान की माँगे, विनियोग विधेयक आदि पर व्यवस्थापिका की स्वीकृती आवश्यक है। संसदीय शासन-प्रणाली तथा अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली दोनों के अंतर्गत व्यवस्थापिका का वित्तीय स्थिति पर नियंत्रण रहता है। इंगलैंड की सरकारी वित्तीय स्थिति के संबंध में यह कहा जाता है कि सरकार धन की माँग करती है, कॉमन्स सभा स्वीकार करती है तथा लार्ड्स सभा उसका अनुसमर्थन करती है। यही स्थिति प्रायः सभी देशों में है।

4. विमर्शात्मक कार्य-व्यवस्थापिका एक विमर्शात्मक निकाय के रूप में भी काम करती है। व्यवस्थापिका के अंतर्गत प्रस्तुत किए गए सभी सरकारी प्रस्तावों पर विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद किया जाता है। व्यवस्थापिका सरकारी नीतियों पर भी वाद-विवाद करती है।

5. न्यायिक कार्य-कई स्थितियों में व्यवस्थापिका को न्यायिक कार्य भी करने पड़ते हैं। अमेरिका में प्रतिनिधि सभा द्वारा राष्ट्रपति के विरूद्ध लगाए गए महाभियोग के प्रस्ताव के संबंध में द्वितीय सदन सिनेट न्यायालय की तरह सुनवाई करती है। ब्रिटेन में लार्ड्स सभा देश के सर्वोच्च न्यायालय के रूप में भी काम करती है, परंतु इस स्थिति में केवल कानूनी लॉर्ड ही भाग लेते हैं। स्विट्जरलैंड में राष्ट्रीय सभा संविधान की व्याख्या का कार्य करती है, इसलिए इसे न्यायिक कार्य की संज्ञा दी गई है।

6. विविध कार्य-उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त व्यवस्थापिका को और भी कई प्रकार के कार्यों का संपादन करना पड़ता है। संविधान में संशोधन, जनता की शिकायतों की सुनवाई तथा निवारण, राज्याध्यक्षों का चुनाव आदि भी व्यवस्थापिका के मुख्य कार्य है। स्विट्जरलैंड की राष्ट्रीय सभा मंत्रिपरिषद के सदस्यों, न्यायाधीशों तथा प्रधान सेनापति की नियुक्ति करती है। व्यवस्थापिका को नियुक्ति के साथ-साथ पदच्युति का भी अधिकार है। भारत में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को हटाने का प्रस्ताव व्यवस्थापिका द्वारा ही पारित होता है। अमेरिका में कांग्रेस ही राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग पारित कर सकती है। ब्रिटेन में कॉमेन्स सभा मंत्रिपरिषद को अविश्वास के प्रस्ताव पर अपदस्थ कर सकती है।

5.7 राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका की भूमिका पतन के कारण

राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका की भूमिका के संबंध में कई बातें आती हैं। यों तो प्रायः सभी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका रहती है, परंतु भूमिका के स्तर, भूमिका की गहराई आदि में भिन्नता पाई जाती है। उदाहरण के लिए, संसदीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका की भूमिका सशक्त एवं प्रभावशाली रहती है। इंगलैंड की संसद के बारे में कहा जाता है कि वह संप्रभु है। अतः, व्यवस्थापिकाओं की भूमिका को राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था के चार प्रतिमान हैं।-

(1) सांविधानिक या लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाएँ,

(2) स्वेच्छाचारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ,

(3) सर्वाधिकारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ,

(4) विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाएँ।

हम अलग-अलग राजनीतिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका की भूमिका का मूल्यांकन करेंगे।

लोकतांत्रिक देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका

सांविधानिक या लोकतांत्रिक राज्यों में व्यवस्थापिकाएँ प्रमुखतया राजनीतिक व्यवस्था के निवेशों ए निर्गतों तथा प्रतिसंभरणों के बीच संप्रेषक का कार्य करती है। दलीय अनुशासन के कारण नियम-निर्माण में इनकी भूमिका इतनी कम हो गई है कि इस क्षेत्र में व्यवस्थापिका मात्र औपचारिकता का निर्वाह करती है। यह स्पष्ट है कि आज व्यवस्थापिकाएँ सरकारी एवं सामान्य कार्यों की अपेक्षा राजनीतिक तथा व्यवस्था-संबंधी कार्यों को अधिक करने लगी है। अपनी विशिष्ट संरचना तथा प्रतिनिध्यात्मक प्रकृति के कारण व्यवस्थापिका राजनीतिक प्रक्रियाओं में केंद्रीय भूमिका निभाने की अवस्था में है। संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में ये ही ऐसी संस्थाएँ हैं, जो जनप्रतिनिधि निकाय की हैसियत से संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को संचालित करने का अधिकार रखती हैं।

इस संबंध में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि राजनीतिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका की भूमिका के अनेक नियामक है, जिनमें सबका उल्लेख करना सहज तथा संभव नहीं। राजनीतिक दल, दबावसमूह, विधायकों के आचरण, निर्वाचन-क्षेत्र तथा अन्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक तत्त्व व्यवस्थापिका की भूमिका पर प्रभाव डालते हैं। हम कह सकते हैं कि लोकतंत्र में व्यवस्थापिका की भूमिका बहुत ही पेचीदे तथा एक-दूसरे से उलझे हुए परिवर्त्यों द्वारा नियमित होती हैं।

व्यवस्थापिका की भूमिका कार्यपालिका के प्रभाव एवं प्रभुत्व पर भी निर्भर करती है। संसदीय और अध्यक्षात्मक शासन-प्रणालियों में व्यवस्थापिका का प्रभाव भिन्न होता है। संसदीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका का घनिष्ठ संबंध रहने के कारण व्यवस्थापिका का प्रभाव कम रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में शक्तियों के पृथक्करण के कारण अपने क्षेत्र में व्यवस्थापिका का पूर्ण प्रभाव रहता है।

यह स्पष्ट है कि व्यवस्थापिकाओं की भूमिका में शासनतंत्र की प्रवृत्ति एवं प्रकार का प्रभाव पड़ता है, परतु सभी देशों में व्यवस्थापिका की किसी-न-किसी प्रकार की भूमिका रहती है। यही कारण है कि सभी प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं के अंतर्गत व्यवस्थापिका का अस्तित्व रहता है। सांविधानिक व्यवस्था या लोकतंत्र के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका निम्नलिखित प्रकार की है-

(क) वैधीकरण की भूमिका -व्यवस्थापिका सत्ताधारकों को वैधता प्रदान करने की भूमिका अदा करती है। शासन को वैध करार करने की एकमात्र एजेंसी होने के कारण इसका विशेष महत्त्व है। व्यवस्थापिका की वैधीकरण की भूमिका के कारण ही हर शासन-व्यवस्था के शासक व्यवस्थापिका का गठन करना चाहते हैं न केवल लोकतंत्र में,वरन अधिनायक एवं सैनिक शासन भी व्यवस्थापिका के लिए निर्वाचन की घोषणा करते हैं।

(ख)अभिज्ञान की अनुभूति कराने की भूमिका -व्यवस्थापिका अभिज्ञान की अनुभूति कराने की भूमिका करती है। सामान्यतः,सामान्य जनों की कोई विशिष्ट पहचान नहीं होती है। चुनाव के समय व्यवस्थापिका में निर्वाचित होने के लिए उम्मीदवार मतदाताओं से जा-जाकर संपर्क स्थापित करते हैं तथा मत माँगते हैं। इससे मतदाताओं को एहसास

होता है कि वे व्यवस्थापिका के निर्माता हैं या उसके गठन में भाग लेते हैं। व्यवस्थापिका के माध्यम से समाज के आम आदमी को देश की सर्वोच्च नियम-निर्मात्री संस्था व्यवस्थापिका के साथ तादात्म्य या अभिज्ञान की अनुभूति होती है।

(ग)कांडो का पर्दाफाश करने वाली ऐजेंसी की भूमिका-देश में अनेक प्रकार की अनियमितताएँ तथा अनेक प्रकार के कांड होते रहते हैं। व्यवस्थापिका एक उचित फोरम है, जहाँ विभिन्न प्रकार के कांडों एवं घटनाओं का पर्दाफाश होता रहता है। इस प्रकार के कार्यों में व्यवस्थापिका की प्रमुख भूमिका रहती है। अमेरिका का '**वाटरगेट कांड**', इंगलैंड का '**परफ्यूमो कांड**', भारत के मूँधड़ा कांड, जीप कांड आदि के पर्दाफाश में व्यवस्थापिका की प्रमुख भूमिका रही है।

अनेक विद्वान मानते हैं कि सांविधानिक शासन-व्यवस्था के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका का ह्रास हो रहा है। वे औपचारिक निकाय के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह कर रही हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि आजकल कार्यपालिका की विस्तृत शक्तियों की पृष्ठभूमि में व्यवस्थापिका की भूमिका कमजोर होती जा रही है, परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि व्यवस्थापिका बिल्कुल निष्क्रिय या अनुपयोगी हो गई है। आज व्यवस्थापिका को कई सीमाओं के अंतर्गत कार्य करना पड़ता है। उन पर अनेक दबाव होते हैं तथा उनके कार्यों एवं शक्तियों के अनेक नियामक होते हैं। इन सीमाओं तथा नियामकों के बावजूद व्यवस्थापिका की अपनी उपयोगिता है, अपनी भूमिका है। यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं के अंतर्गत व्यवस्थापिका का गठन किया जाता है।

अधिनायकवादी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका

आम तौर से यह देखा गया है कि अधिनायकवाद के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका अधिनायकों के हितों की रक्षा करने में निहित रहती है। अधिनायकवाद में व्यवस्थापिका का गठन तो अवश्य किया जाता है, परंतु वह अधिनायकों के हाथ की कठपुतली रहती है। अधिकांश तानाशाह व्यवस्थापिका का गठन कर अपनी सत्ता पर वैधता की मुहर लगाने का प्रयास करते हैं।

विभिन्न अधिनायकवादी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका का विश्लेषण करने के बाद यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका की भूमिका व्यवहार में अधिनायको की इच्छा पर निर्भर करती है। पाकिस्तान के अनेक सैनिक शासकों ने व्यवस्थापिका की वैधानिकता की ओट में अपनी शक्ति और सत्ता में वृद्धि की। आमतौर से यह देखा गया है कि प्रत्येक अधिनायक या सैनिक शासक ने तत्कालीन व्यवस्थापिका के दोषों को दूर करने के नाम पर सत्ता पर कब्जा किया तथा नए सिरे से व्यवस्थापिका के गठन की घोषणा की। तानाशाही देशों में व्यवस्थापिका का गठन तथा उसकी भूमिका मात्र औपचारिक होती है।

यह सत्य है कि तानाशाही शासनों में व्यवस्थापिकाएँ मात्र औपचारिकतावश गठित होती है तथा उनकी भूमिका भी अत्यधिक सीमित होती है। परंतु, ये व्यवस्थापिकाएँ भी लंबे दौरान में लोकतंत्र की माँग करती हुई पाई गई हैं। कभी-कभी ये व्यवस्थापिकाएँ अधिनायकों का विरोध करने वाले फोरम के रूप में परिवर्तित हो गई हैं। ये व्यवस्थापिकाएँ प्रत्यक्ष रूप से तानाशाही के विरूद्ध तो आवाज नहीं उठा पातीं, परंतु वहाँ से ऐसी प्रवृत्तियों का जन्म होता है, जो लोकतंत्र की वापसी के लिए आंदोलन का रूप धारण कर लेती हैं। पाकिस्तान में लोकतंत्र की

वापसी के आंदोलन में व्यवस्थापिका के अनेक सदस्यों की भी सक्रिय भूमिका रही है। बर्मा में भी व्यवस्थापिका ने इस प्रकार की भूमिका निभाई है।

अनेक अधिनायक अपना प्रभुत्व बनाए रखने हुए व्यवस्थापिका को सम्मान देते हैं जिसके परिणामस्वरूप व्यवस्थापिका के लिए किए गए चुनावों में उन्हें स्पष्ट बहुमत मिलता है। मार्शल टीटो, नेरेरे, फिडेल कैस्ट्रो, केनेथ कौण्डा, सादात आदि ऐसे शासक हुए हैं जिन्होंने अधिनायकवाद की सारी सुविधाओं को भोगते हुए अपनी सत्ता के वैधीकरण के लिए व्यवस्थापिका के प्रति सम्मान का भाव रखा।

निष्कर्षतः हम कह सकते है। कि अधिनायकवाद में व्यवस्थापिका का लोप नहीं होता, परंतु उसकी भूमिका अत्यधिक सीमित एवं औपचारिक हो जाती है। वस्तुतः, अधिनायकवाद के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका मुख्यतया तानाशाह के व्यवस्थापिका के प्रति रवैये पर निर्भर करती है।

सर्वाधिकारी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका

सर्वाधिकारी राज्यों में व्यवस्थापिका की भूमिका न तो उदारवादी लोकतांत्रिक देशों की तरह है और न ही तानाशाही राज्यों की तरह। भूतपूर्व सोवियत संघ, चीन तथा अन्य साम्यवादी राज्य सर्वाधिकारी राज्य की श्रेणी में आते हैं। इन राज्यों में व्यवस्थापिका के गठन का आधार वहीं होता है जो लोकतांत्रिक राज्यों में होता है, यद्यपि एकदलीय प्रभुता के कारण व्यवस्थापिका में चुनाव का तत्त्व मात्र औपचारिक तत्त्व बनकर रह जाता है।

भूतपूर्व सोवियत संघ के संविधान में स्पष्ट रूप से कहा गया था, "राज्य-शक्ति का सर्वोच्च अंग सर्वोच्च सोवियत होगी।" साम्यवादी देशों की व्यवस्थापिकओं के गठन में सैद्धांतिक स्तर पर वहाँ की जनता चुनाव में सहभागी होती है, मतदान करती है। एक दल के होने के कारण दूसरे दल का कोई उम्मीदवार नहीं होता, इसलिए चुनाव मात्र औपचारिक या दिखावा बनकर रह जाता है। सोवियत संघ में साम्यवादी दल सर्वोच्च सोवियत के सदस्यों के नामों की घोषणा करता था और वे व्यक्ति निर्विरोध सर्वोच्च सोवियत के सदस्य निर्वाचित हो जाते थे। एक प्रकार से सर्वोच्च सोवियत के सदस्य साम्यवाद दल के मनोनीत सदस्य होते थे।

जहाँ एक सर्वाधिकारी राज्यों में व्यवस्थापिका की भूमिका का प्रश्न है, सैद्धांतिक रूप से उसकी वही भूमिका निदेशित है, जो लोकतांत्रिक और सांविधानिक राज्यों की है। परंतु, जब हम व्यवस्थापिका के कृत्यों एवं शक्तियों का व्यवहार में प्रयोग देखते हैं, तब हमारे सम्मुख दूसरा चित्र उभरता है।

सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत को वे सारी शक्तियाँ प्राप्त थीं, जो लोकतांत्रिक देशों की व्यवस्थापिका को प्राप्त हैं। सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत के अंतर्गत विरोधी दल के अभाव के कारण विधिनिर्माण या अन्य प्रकार के प्रस्तावों को पारित होने तथा वाद-विवाद की प्रक्रिया मात्र औपचारिकता थी। सर्वोच्च सोवियत की सारी प्रक्रियाएँ साम्यवादी दल के निर्देशानुसार संचालित होती थीं। सर्वोच्च सोवियत केवल उन्हीं प्रस्तावों को पारित करती थी, जिन्हें साम्यवादी दल निदेशित करती थी। यह स्थल एक नाट्यस्थल का रूप धारण करता था, जहाँ हर पात्र साम्यवादी दल के निर्देश के अनुसार अपना-अपना पार्ट अदा करता था। टाउस्टर के कथनानुसार, "सर्वोच्च सोवियत एक अनुसमर्थक एवं प्रचारक निकाय के रूप में काम करती है।"

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सर्वाधिकारी राज्य में व्यवस्थापिका की भूमिका अधिनायकवादी राज्य की भाँति अत्यधिक सीमित रहती है। साम्यवादी राज्यों में साम्यवादी दल का प्रभुत्व एवं प्रभाव सर्वव्यापक रहता है। शासन

के समस्त अंगों पर दल का नियंत्रण रहता है और सभी अंग दल के नियंत्रण एवं निदेशन में काम करते है। इसलिए व्यवस्थापिका स्वतंत्र रूप से अपनी भूमिका अदा नहीं कर सकती।

विकासशील देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका

विकासशील देशों में व्यवस्थापिका की विशिष्ट भूमिका रहती है। विकासशील देश राजनीतिक आधुनिकीकरण और राजनीतिक विकास के मार्ग पर पिछड़े हुए है। राजनीतिक विकास के जो प्रमुख लक्षण हैं उनका भी विकासशील देशों में अभाव है। अतः हम पाते हैं कि कई दृष्टियों से विकासशील देश पिछड़े हुए हैं। सभी विकासशील देशों में व्यवस्थापिका का एक प्रकार का मॉडेल नहीं है। कुछ विकासशील देशों ने पश्चिम के उदारवादी लोकतंत्र के मॉडलों को अपनाया है तथा कुछ विकासशील देशों ने साम्यवादी देशों के प्रतिमानों या मॉडेलों को प्रश्रय दिया है। सच्चाई यह है कि विकासशील देश मॉडलों के झमेले में पड़े हुए हैं। इन्होंने अपने-अपने ढंग के प्रतिमानों या मॉडलों को अपना तो लिया है, परंतु उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का वहाँ अभाव है।

प्रारंभिक दिनों में विकासशील देशों ने व्यवस्थापिका को सुव्यवस्थित रूप देने तथा उदारवादी लोकतांत्रिक परंपराओं के अनुसार उसे संचालित करने का प्रयास किया। उदाहरण के लिए भारत में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद प्रारंभिक पंद्रह वर्षों तक व्यवस्थापिका की आदर्श भूमिका रही, परंतु बाद के दिनों में व्यवस्थापिका के स्वरूप एवं कार्यचालन में विकृति पैदा हो गई। इन दिनों व्यवस्थापिका हंगामा का एक स्थल बन गया है। व्यवस्थापिका के अंतर्गत सरकार एवं विरोधी दल के बीच मतभेद इतना गहरा हो गया है कि वहाँ होने वाले प्रदर्शन निम्नस्तरीय होने लगे हैं। आए दिन व्यवस्थापिका के सदनों में शोर-शराबा, हंगामा और हाथापाई की घटनाएँ भी घटने लगी हैं।

विकासशील देशों में जनमत का स्परूप इतना कमजोर है कि वहाँ की जनता व्यवस्थापिका की उपयोगिता उस मात्रा में तथा उस ढंग से नहीं कर सकती, जिस मात्रा में तथा जिस सीमा में अपेक्षा की जाती है। अनेक लोग व्यवस्थापिका के अंतर्गत राजनीतिक दल तथा राजनीतिक लोगों के भद्दे एवं अशोभनीय प्रदर्शन के कारण व्यवस्थापिका को निरर्थक एवं अनुपयोगी मानने लगे हैं। जनसंख्या का अधिक भाग अशिक्षित एवं अज्ञानी होने के कारण वे व्यवस्थापिका के गठन और भूमिका में कम-से-कम दिलचस्पी लेते हैं, इसलिए व्यवस्थापिका का चुनाव ढकोसला बनता जा रहा है।

अधिकांश विकासशील देशों के उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि विकासशील राज्यों में व्यवस्थापिका को प्रभावी बनाए रखने के लिए आवश्यक एवं अनुरूप राजनीतिक संस्कृति का विकास नहीं हो पाया है। इसके फलस्वरूप विकासशील देशों में व्यवस्थापिकओं की भूमिका न तो उदारवादी लोकतांत्रिक देशों की व्यवस्थापिकाओं की तरह हो पाई है और न ही सर्वाधिकारी राज्यों की व्यवस्थापिकाओं की तरह हो पाई है। मॉडेलों के संदर्भ में विकासशील देशों की व्यवस्थापिकाएँ 'अँधेरे में टटोलने' का काम कर रही हैं।

पिछले दिनों विकासशील देशों में राजनीतिक दलों तथा दबावसमूहों के संबंध में अनेक भ्रांतियाँ तथा अनेक विरोधाभास उभरे हैं और फैले हैं, जिसके कारण भी व्यवस्थापिकाओं की भूमिका स्पष्ट नहीं हो पाई है। व्यवस्थापिका के गठन तथा उसके कार्यचालन के संबंध में राजनीतिक दलों की जो भूमिका होनी चाहिए, वह अभी तक विकासशील देशों में नहीं उभर पाई है। इस स्थिति में यह कहा जाना स्वाभाविक है कि विकासशील देशों में सहभागिता के अभिकरण के रूप में व्यवस्थापिकाओं की भूमिका और उपयोगिता के बारे में लोगों में संदेह

बना रहता है। विकासशील देशों में व्यवस्थापिकाएँ सामान्य सरकारी कार्यों के संपादन में असफल तो हुई हैं, राजनीतिक कार्यों में भी इसकी उपयोगिता संदेहास्पद रही है।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि विकासशील देशों में व्यवस्थापिका निरर्थक और अनुपयोगी है। कई देशों में इसकी उपयोगिता को प्रतिष्ठापित करने के प्रयास किए जा रहे हैं, यद्यपि अधिकांश विकासशील देशों में व्यवस्थापिकाएँ प्रभावहीन ही सिद्ध हुई है। कई लोगों ने विकासशील देशों में व्यवस्थापिका के उज्जवल भविष्य की भविष्यवाणी की है। विकासशील देशों की व्यवस्थापिकाओं के कार्यचालन के संबंध में निश्चितरूप से कुछ कहना तो संभव नहीं प्रतीत होता, परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वहाँ अभी व्यवस्थापिकाएँ की भूमिका सुव्यवस्थित नहीं है।

अधिकांश विकासशील देशों ने असंलग्नता की नीति अपनाई है। इसके कारण भी उन्हें कठिनाई हो रही है, क्योंकि उन पर किसी निश्चित शासन-प्रणाली या किसी निश्चित मॉडेल का सुस्पष्ट प्रभाव नहीं है। इन कठिनाईयों के बावजूद कई विकासशील देश व्यवस्थापिका को प्रभावी बनाने के निमित्त प्रयत्नशील हैं

व्यवस्थापिकाओं का पतन

अनेक विद्वानों का मत है कि बीसवीं शताब्दी में व्यवस्थापिकाओं का निश्चित रूप से पतन हुआ है। लॉर्ड ब्राइस ने अपनी पुस्तक **'मॉडर्न डेमोक्रेसीज'** में एक विशेष अध्याय के अंतर्गत व्यवस्थापिका के पतन की स्थिति की व्याख्या की। ब्राइस ने पतन के कारणों का उल्लेख तो किया है, परंतु वह उसकी पूर्ण बथा स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाया है। के0 सी0 व्हीयर ने अपनी पुस्तक 'लेजिस्लेचर' (Legislature) में आधुनिक युग में व्यवस्थापिकाओं के पतन के संबंध में एक अध्याय जोड़ा है। व्हीयर ने व्यवस्थापिका के पतन के संबंध में कई प्रश्न उठाए हैं। उदाहरण के लिए, व्हीयर के निम्नलिखित मुख्य प्रश्न हैं:

(1) क्या व्यवस्थापिका की शक्तियों में ह्रास हुआ है ?

(2) क्या व्यवस्थापिका की कार्यक्षमता में कमी आई है ?

(3) क्या व्यवस्थापिका में जनता की रूचि कम हुई है ? इत्यादि।

व्यवस्थापिका की शक्तियों में किस सीमा तक पतन हुआ है यह कहना तो कठिन है, परंतु इतना कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका की स्थिति में अवनति हुई है। अनेक क्षेत्रों में कार्यपालिका ने व्यवस्थापिका के अधिकार पर कब्जा कर लिया है। विधिनिर्माण व्यवस्थापिका की एकमात्र जिम्मेदारी है, परंतु संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधि निर्माण की जिम्मेदारी मंत्रिपरिषद की समझी जाती है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि बीसवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यवस्थापिका की शक्ति में कमी आई है।

पतन के कारण

व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों और महत्त्व में कमी होने का कोई एक कारण नहीं है। इसके अनेक कारण हैं। यहाँ हम उनमें से कुछ कारणों का उल्लेख करेंगे-

1.व्यवस्थापिका की शक्तियों में ह्रास होने का सबसे बड़ा कारण कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि है। कार्यपालिका ने निश्चित रूप से व्यवस्थापिका की कई शक्तियों को हड़प लिया है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत संसद को आहत, सत्रावसित तथा विघटित करने का अधिकार कार्यपालिका को प्राप्त है। साथ-ही-साथ विधेयकों को प्रस्तावित करने का अधिकार भी कार्यपालिका को है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत शक्तियों के पृथक्करण के कारण व्यवस्थापिका और कार्यपालिका पृथक-पृथक है, फिर भी कार्यपालिका व्यवस्थापन-प्रक्रिया को प्रभावित करती है। अमेरिका में राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा पारित विधेयकों के संबंध में निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार, हम पाते हैं कि कार्यपालिका की बढ़ती हुई शक्तियों ने व्यवस्थापिका की शक्तियों और स्थिति में कमी लाई है।

2. प्रदत्त विधायन के कारण भी व्यवस्थापिका की स्थति में ह्रास हुआ है। कई कारणों से व्यवस्थापिका ने अनेक क्षेत्रों में कार्यपालिका को विधिनिर्माण का कार्यभार सौंप दिया है।

3. रेडियो, टेलिविजन तथा संचार के नए-नए साधनों के कारण कार्यपालिका जनता के सीधे संपर्क में आ गई है जिसके कारण व्यवस्थापिका का प्रभाव कम हो गया है। आधुनिक युग में मुख्य कार्यपालक व्यवस्थापिका की उपेक्षा करके जनता से सीधे और प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित कर लेता है जबकि प्राचीनकालमेंमुख्य कार्यपालक व्यवस्थापिका के माध्यम से जनता तक पहुँच पाता था।

4. एल0 एन0 बॉल ने लिखा है, "बीसवीं शताब्दी में बड़े- बड़े अनुशासित दलों के विकास तथा कार्यपालिका शक्ति की वृद्धि के कारण व्यवस्थापिका के पतन या ह्रास की चर्चा एक सामान्य बात हो गई है। अनुशासित राजनीतिक दलों के कारण विधायकों का महत्त्व कम हो गया है। व्यवस्थापिका के अंतर्गत प्रत्येक राजनीतिक दल का सचेतक आदेश जारी करता है। जिसके अनुसार विधायक किसी भी विधेयक या प्रस्ताव पर मतदान करते हैं। फलस्वरूप, विधेयकों या प्रस्तावों के मतदान पर कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका के सदस्यों को निदेशित एवं नियंत्रित करती है।

5. दबाव एवं हित-समूहों के बढ़ते प्रभाव के कारण व्यवस्थाकिा की स्थिति में कमी आई है। आज अधिकांश विधेयक दबाव एवं हित-समूहों के कारण पारित होते हैं या दब जाते हैं। कार्यपालिका बहुत-सा निर्णय व्यवस्थापिका की सम्मति के बिना दबाव व हित-समूहों के दबाव या प्रभाव में आकर ले लेती हैं। दबाव एवं हित-समूहों का संगठन इतना सशक्त रहता है कि उनसे संबंधित सरकार के निर्णय जब प्रस्ताव के रूप में व्यवस्थापिका के सम्मुख आते हैं, तब उसे अनुसमर्थन या स्वीकृति देनी पड़ती है।

6. न्यायालय द्वारा व्यवस्थापिका के अधिनियमों की वैधता जाँच करने की शक्ति के कारण के व्यवस्थापिका के प्रभाव में कमी आई है। अमेरिका तथा भारत में न्यायालय व्यवस्थापिका के अधिनियमों की वैधानिकता को जाँचकर उसे अवैध या असांविधानिक घोषित कर सकता है।

7. युद्ध और संकट की स्थिति में राज्याध्यक्ष को असाधारण शक्तियों को प्रयोग करने का अधिकार है। राज्याध्यक्ष युद्ध और संकट के समय सेना पर तो नियंत्रण रखता ही है, वह असाधारण निर्णय भी ले सकता है। युद्ध और संकट में लिए गए निर्णयों की सूचना मात्र व्यवस्थापिका को दे दी जाती है। कई स्थितियों में व्यवस्थापिका को सैनिक दृष्टिकोण से गोपनीय सूचनाओं से वंचित रखा जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब युद्ध और संकट में कार्यपालिका ने व्यवस्थापिका की उपेक्षा की। अमेरिका के राष्ट्रपति ने वियतनाम युद्ध के दौरान कांग्रेस की सम्मति के बिना अनेक निर्णय लिए।

8. वैदेशिक मामलों के संचालन में व्यवस्थापिका की भूमिका अति सीमित या औपचारिक रहती है। वैदेशिक मामलों में सारे निर्णय कार्यपालिका के प्रधान द्वारा लिए जाते हैं। व्यवस्थापिका उन पर मात्र स्वीकृति की मुहर लगाती है। वैदेशिक मामलों में मुख्य कार्यपालकों के बीच सीधा संपर्क होने के लिए रूस और अमेरिका के बीच हॉट लाइन लगाई गई थी।

9. लोककल्याणकारी राज्य का उद्देश्य है नागरिकों का सर्वांगीण विकास। नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए सरकार को सभी क्षेत्रों में कार्य करना पड़ता है। 'पालने से कब्र' तक राज्य नागरिकों को सेवा प्रदान करता है। इस प्रकार लोककल्याणकारी राज्य में कार्यपालिका के कार्यो में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है और अनेक क्षेत्रों में उसे स्वविवेक प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। फलस्वरूप, कई स्थितियों में कार्यपालिका व्यवस्थापिका की अवहेलना करती है। इस तरह लोककल्याणकारी राज्य के उदय के कारण व्यवस्थापिका की स्थिति और भूमिका में कमी आई है।

10. आज का युग संकट का युग है। आए दिन संकट के बादल मँडराते हैं, जिसके कारण सरकार तथा नागरिक दोनों ही चिंता और तनाव की स्थिति में रहते हैं। युद्ध, आंतरिक संघर्ष तथा अन्य प्रकार के संकटों के कारण उत्पन्न असुरक्षा की भावना ने नागरिकों को अधिक-से-अधिक कार्यपालिका पर निर्भर होने के लिए विवश कर दिया है। इस कारण भी व्यवस्थापिका के महत्त्व में कमी आ गई है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों एवं प्रभाव में ह्रास हुआ है।

अभ्यास प्रश्न

1.व्यवस्थापिका का निम्न में से कौन-सा कार्य है?

a. विधि निर्माण b. कार्यपालिका पर नियंत्रण

c. निर्वाचन संबंधी d. उपर्युक्त सभी

2. विधानमण्डल के पतन का कौन-सा कारण नहीं है?

a. कार्यपालिका का बढ़ता कार्य क्षेत्र b. प्रदत्त विधायन

c. दलिय पद्धति d. उपर्युक्त सभी

5.8 सारांश

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते है कि सरकार के प्रमुख अंगों में व्यवस्थापिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। व्यवस्थापिका का सर्वप्रमुख कार्य विधि निर्माण, विचार विमर्श, वित्त संबंधी, कार्यपालिका पर नियंत्रण, निर्वाचन संबंधी, जनमत की अभिव्यक्ति एवं संविधान में संशोधन प्रमुख उत्तरदायित्व है अतः हम देखते है कि आधुनिक राज्यों के सफल संचालन के लिए व्यवस्थापिका की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

5.9 शब्दावली

व्यवस्थापिका-सरकार के तीन अंग हैं-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से व्यवस्थापिका तीनों अंगों में सर्वोच्च है। व्यवस्थापिका का कार्य है-विधिनिर्माण करना। तुलनात्मक राजनीति की आधुनिक शब्दावली के अंतर्गत व्यवस्थापिका के स्थान पर नियम-निर्माण विभाग का प्रयोग किया जाता है।

एक सदनीय व्यवस्थापिका- जिन राज्यों की व्यवस्थापिका में एक सदन होता है वह एक सदनीय व्यवस्थापिका कहलाती है।

द्विसदनीय व्यवस्थापिका- जब व्यवस्थापिका में दो सदन होते है तो उसे द्विसदनीय व्यवस्थापिका कहा जाता है।

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.उपर्युक्त सभी, 2. दलीय पद्धति

5.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11

2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13

3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

5.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory

2. Robert Dahl: A preface to democratic theory

3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics

4. K.C. Wheare: Modern Constitution

5.13निबन्धात्मक प्रश्न

1.व्यवस्थापिका से क्या समझते हैं ? उसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

2. व्यवस्थापिका के गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए

इकाई 6- कार्यपालिका

इकाई की रुपरेखा

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 कार्यपालिका का अर्थ

6.4 कार्यपालिका के प्रकार

6.5 कार्यपालिका के कार्य

6.6 कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि के कारण

6.7कार्यपालिका व्यवस्थापिका में संबंध

6.8 सारांश

6.9 शब्दावली

6.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.13निबन्धात्मक प्रश्न

6.1प्रस्तावना

सरकार राज्य का एक प्रमुख तत्त्व है अर्थात हम कह सकते है कि राज्य की कल्पना सरकार के बिना नहीं की जा सकती। सरकार के कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जहां तक कार्यपालिका का संबंध है तो इसका प्रमुख कार्य देश के लिए कानूनों कोलागू करना होता है। कार्यपालिका शासन का वह अंग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों को लागू करती है।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- सरकार के प्रमुख अंगों में कार्यपालिका के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
- कार्यपालिका के संगठन एवं कार्यों के बारे में विस्तार से अध्ययन सामग्री प्राप्त कर सकते हैं।
- कार्यपालिका व्यवस्थापिका संबंधों का तुलनात्मक अध्ययन करना है।

6.2कार्यपालिका का अर्थ

कार्यपालिका सरकार का वह अंग है, जिसका कार्य व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों का कार्यान्वयन करना है। विधियों को लागू करने वाली शक्ति को कार्यपालिका कहा जाता है। कार्यपालिका का दो अर्थ में प्रयोग किया जाता है: व्यापक अर्थ में तथा संकुचित अर्थ में। व्यापक अर्थ में कार्यपालिका के अंतर्गत वे सभी कर्मचारी आते हैं, जिनका संबंध प्रशासन से होता है। संकुचित अर्थ में कार्यपालिका के अंतर्गत वे सभी कर्मचारी आते है, जिनका संबंध नीति-निर्माण तथा उसके कार्यन्वयन से है। अमेरिका में राष्ट्रपति तथा उसके सचिव उसके अंतर्गत आते हैं। पलेम्बरा ने सरकार, कार्यपालिका और नौकरशाही में अंतर बरता है। मैक्रीडिस ने कहा है कि राजनीतिक कार्यपालिका राजनीतिक समाज के शासन के लिए औपचारिक उत्तरदायित्व निभानेवाली संस्थागत व्यवस्था है। आधुनिक युग में राजनीति विज्ञान के अंतर्गत कार्यपालिका में कार्यपालिका के प्रधान तथा मंत्रिमंडल को लिया जाता है। असैनिक सेवा तथा इस स्तर के कर्मचारी कार्यपालिका के अंतर्गत नहीं आते हैं।

6.3कार्यपालिका के प्रकार

आधुनिक युग में कार्यपालिका के कई प्रकार हैं। अलग-अलग राज्य में कार्यपालिका के अलग-अलग प्रकार हैं। आधुनिक कार्यपालिका के मुख्यतः निम्नलिखित रूप हैं-

(क) **राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका** - यों तो संकुचित दृष्टिकोण से कार्यपालिका के अंतर्गत असैनिक सेवा के सदस्य नहीं आते, फिर कार्यपालिका का वर्गीकरण राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका में किया जाता है। राजनीतिक कार्यपालिका वह कार्यपालिका है, जो निर्वाचित होती है तथा जो एक निश्चित अवधि के लिए अपने पद पर बनी रहती है। इसके विपरीत स्थायी कार्यपालिका वह कार्यपालिका है जो स्थायी है तथा जिसका निर्वाचन से कोई संबंध नहीं है। स्थायी कार्यपालिका राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ रहती है।

(ख)**नाममात्र की एवं वास्तविक कार्यपालिका** - जब कार्यपालिका केवल नाममात्र का प्रधान होती है, तब उसे नाममात्र की कार्यपालिका कहा जाता है। इसे सांविधानिक कार्यपालिका भी कहा जाता है। संसदीय शासन-प्रणाली में नाममात्र की तथा वास्तविक दोनों प्रकर की कार्यपालिका होती है। ब्रिटेन का सम्राटतथा भारत का राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका के उदाहरण हैं। ये दोनों अपने-अपने राज्य के मात्र सांविधानिक प्रधान हैं।

जब कार्यपालिका सांविधानिक दृष्टिकोण से प्रधान नहीं होते हुए भी यथार्थ में प्रधान होती है, तब उसे वास्तविक कार्यपालिका कहा जाता है। ब्रिटेन एवं भारत का मंत्रिमंडल वास्तविक कार्यपालिका के उदाहरण हैं। अमेरिका का राष्ट्रपति तथा फ्रांस का राष्ट्रपति सांविधानिक एवं वास्तविक दोनों कार्यपालिका के मिश्रण हैं।

(ग)**एकल और बहुल कार्यपालिका** - जब कार्यपालिका की शक्तियाँ एक निश्चित व्यक्ति के हाथ में निहित होती हैं, तब उसे एकल कार्यपालिका कहा जाता है। इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा फ्रांस में एकल कार्यपालिका है।

जब कार्यपालिका की शक्तियाँ किसी एक व्यक्ति में निवास न कर कुछ व्यक्तियों के समूह में निवास करती है तब उसे बहुल कार्यपालिका कहा जाता है। स्विट्जरलैण्ड की संघीय परिषद तथा सोवियत रूस की प्रेजीडियम बहुल कार्यपालिका के उदाहरण है। स्विट्जरलैण्ड तथा सोवियत रूस में कार्यपालिका की शक्तियाँ सभी सदस्यों में समान से बँटी हुई हैं। इन संस्थाओं का प्रधान मात्र औपचारिक प्रधान होता है। उसे किसी भी प्रकार का विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होता।

(घ)**संसदीय एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिका** - संसदीय और अध्यक्षात्मक प्रणालियों में कार्यपालिका के स्वरूप भिन्न होते हैं। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत कार्यपालिका दो प्रकार की होती है-सांविधानिक और वास्तविक। वास्तविक कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। भारत और ब्रिटेन में मंत्रिमंडल वास्तविक कार्यपालिका है और व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। वास्तविक कार्यपालिका में ही वास्तविक शक्तियाँ निहित रहती है।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका सांविधानिक और वास्तविक एक ही होती है। साथ-ही-साथ वह व्यवस्थापिका के किसी भी सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। अमेरिका का राष्ट्रपति अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का उदाहरण है। वह यथार्थ रूप में वास्तविक शक्तियों का प्रयोग करता है। वह तथा उसके सचिव कांग्रेस के किसी सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। इसके साथ ही वह राज्य का प्रधान भी होता है।

6.4कार्यपालिका के कार्य

प्राचीन काल में जब राज्य का स्वरूप सैनिक राज्य का था तब कार्यपालिका के कार्य समिति थे, परंतु आधुनिक राज्य में कार्यपालिका के कार्यों के क्षेत्र एवं प्रकृति में मौलिक अंतर हुआ है। साथ-ही-साथ उसके कार्यों में वृद्धि भी हुई है। आधुनिक राज्य में कार्यपालिका के निम्नलिखित मुख्य कार्य हैं-

प्रशासकीय कार्य - कार्यपालिका के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रशासकीय कार्य हैं। कार्यपालिका अपने देश की सीमा के अंतर्गत विधियों को लागू करती है, प्रशासन की विभिन्न एजेंसियों को गठित करती है तथा उनके लिए पदाधिकारियों की नियुक्ति करती है। कार्यपालिका प्रशासन के विभिन्न विभागों एवं एजेंसियों के बीच सांमजस्य स्थापित करती है। संक्षेप में, आंतरिक दृष्टि से कार्यपालिका कानूनों को लागू करने, प्रशासन का निर्देशन, निरीक्षण एवं नियंत्रण करने तथा प्रशासन के विभिन्न विभागों एंव एजेंसियों के बीच ताल-मेल रखने तथा कानून और व्यवस्था बनाए रखने का कार्य करती है।

कूटनीतिक कार्य - कार्यपालिका कूटनीतिक कार्यों का भी संपादन करती है। इसके अंतर्गत विदेशी मामले भी आ जाते हैं। आधुनिक युग में विदेशी क्षेत्रों में कार्यपालिका के कार्य बढ़ गए हैं। वह विदेशों में भेजे जाने वाले राजदूतों एवं राजनयिकों की नियुक्ति करती है तथा विदेशों से आने वाले राजदूतों का प्रमाणपत्र ग्रहण करती है। विदेशों के साथ संधि एवं समझौते करने तथा उन्हें लागू करने में कार्यपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। संधियों एवं समझौते से विदेशों के साथ आर्थिक, राजनीतिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने की जिम्मेदारी भी कार्यपालिका की ही है।

सैनिक कार्य - आधुनिक युग में मुख्य कार्यपालक को ही सेना का प्रधान कहा जाता है। भारत का राष्ट्रपति सेना के तीनों अंगों का सर्वोच्च सेनापति है। कार्यपालिका ही सेना के प्रधानों की नियुक्ति करती है तथा उसे युद्ध या अन्य प्रयोजनों के लिए आदेश देती है। युद्ध, युद्धविराम की घोषणा करना भी कार्यपालिका के ही कार्य हैं।

विधायिनी कार्य - कार्यपालिका विधायिनी कार्यों का भी संपादन करती है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत तो विधिनिर्माण की वास्तविक जिम्मेदारी कार्यपालिका की होती है। विधेयकों को प्रस्तावित करने से लेकर उन्हें पारित करने की जिम्मेदारी कार्यपालिका की है। विधिनिर्माण में सहभागी होने के साथ-साथ कार्यपालिका अध्यादेश भी जारी करती है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में शक्तियों के पृथकरण के कारण कार्यपलिका सक्रिय रूप से विधि निर्माण की प्रक्रियाओं में तो भाग नहीं लेता, परंतु संदेश भेजने के अधिकार एवं निषेधाधिकार के कारण वह विधायन की प्रक्रिया को प्रभावित करती है।

आधुनिक युग में प्रदत्त विधायन के कारण भी विधायिनी क्षेत्र में कार्यपालिका की भूमिका सक्रिय एवं महत्त्वपूर्ण हो गई है।

वित्तीय कार्य - देश की वित्तीय व्यवस्था के प्रबंध एवं संचालन की जिम्मेदारी कार्यपालिका की है। देश के आय-व्यय के लिए बजट बनाने तथा विधानमंडल के सामने उसे प्रस्तुत करने, विधायिका द्वारा स्वीकृत राजस्व की राशि को वसूलने, उनका आबंटन करने, तथा प्रशासन के संबंध में आवश्यक व्यय करने का अधिकार कार्यपालिका के हैं। कार्यपालिका नए टैक्स लगाने, पुराने टैक्सों में संशोधन करने या उठने का प्रस्ताव विधायिका के सम्मुख रखती है। कार्यपालिका देश की संचित निधि का संरक्षक होती है। विधायिका की स्वीकृति के अभाव में वह आकस्मिक निधि से राशि निकालकर भी व्यय कर सकती है।

न्यायिक कार्य - कार्यपालिका को न्यायिक कार्यों का भी संपादन करना पड़ता है। वह न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है, न्यायालय द्वारा दंडित व्यक्तियों के दंड को कम कर सकती है, स्थगित कर सकती है तथा क्षमा प्रदान कर सकती है।

अन्य कार्य - कार्यपालिका को उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कई अन्य प्रकार के कार्यों का भी संपादन करना पड़ता है। देश के आर्थिक एंव व्यापारिक विकास में भी कार्यपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। कार्यपालिका को संकटकालीन स्थितियों में कुछ विशेष प्रकार के कार्यों का संपादन करना पड़ता है। उस समय वह असामान्य शक्तियों का भी प्रयोग करती है। उदाहरण के लिए, भारत की कार्यपालिका को संकटकालीन स्थिति का मुकाबला करने के लिए संकटकालीन शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। फ्रांस में भी कार्यपालिका को आपातकालीन शक्तियाँ प्राप्त हैं।

राजनीतिक कार्य - आधुनिक युग में कार्यपालिका सांविधानिक कार्यों के अतिरिक्त कतिपय राजनीतिक कार्यों का भी संपादन करती है।

6.5 कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि के कारण

आज कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हो रही है। आज राज्य का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जो कार्यपालिका के प्रभाव तथा नियंत्रण से परे हो। आधुनिक काल में कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं-

लोक-कल्याणकारी राज्य का उदय - लोक-कल्याणकारी राज्य के उदय ने कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि का अवसर प्रदान किया है। लोक-कल्याणकारी राज्य में राज्य हर क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है, फलतः कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि होना स्वभाविक है।

व्यवस्थापिका की अक्षमता - आधुनिक युग में कई कारणों से विधायिका अपने कार्यों के संपादन में अक्षम या असमर्थ हो गई है। नए वैज्ञानिक आविष्कारों तथा तकनीकी विषयों के कारण विधायिका विधिनिर्माण के कार्य में

या कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने के क्रम में अपना पूर्ण प्रभाव नहीं डाल सकती। दलीय मतभेद के कारण भी व्यवस्थापिका सभी प्रकार के विषयों पर विधेयक बनाने में असमर्थ होती है। दूसरी ओर दलगत अनुशासन के कारण सरकारी पार्टी सरकार के विरूद्ध प्रस्ताव नहीं पारित कर पाती है। कारण कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि हुई है।

आर्थिक एवं औद्योगिक विकास - आधुनिक राज्य आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है। आज के राज्य में आर्थिक एवं औद्योगिक विकास सर्वप्रथम प्राथमिकता है। आर्थिक विकास के प्रयत्नों के कारण कार्यपालिका के कार्यों का विस्तार हो रहा है। यही कारण है कि विश्व के अधिकांश देशों में कार्यपालिका आर्थिक योजनाएँ बनाती है तथा उन्हें कार्यान्वित करती है।

राष्ट्रीय संकट - राष्ट्रीय संकट के समय कार्यपालिका के कार्यों एवं दायित्वों में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हो जाती है। संकटकाल में अनेक कार्य उभरते हैं जिनमें कार्यपालिका की सहभागिता हो जाती है। संकटकाल के कारण कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि होती है।

दलगत अनुशासन - दलगत अनुशासन के कारण भी कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि हुई है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत यद्यपि कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाई गई है, तथापि व्यवहार में दलगत अनुशासन के कारण व्यवस्थापिका कार्यपालिका के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव नहीं पारित कर सकती। अध्यक्षात्मक प्रणाली के अंतर्गत भी दलीय अनुशासन के कारण मुख्य कार्यपालक विधायन को प्रभावित करता है।

नियोजन - आज प्रायः सभी राज्यों में नियोजन की व्यवस्था है। योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में कार्यपालिका के कार्य एवं दायित्व अधिक हो जाते हैं।

वैदेशिक संबंध एवं वैदेशिक नीति - वर्तमान समय में प्रत्येक राज्य के अंतरराष्ट्रीय संबंधों एवं वैदेशिक नीति के क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है। वैदेशिक मामले की पेचीदगियों के कारण कार्यपालिका की पकड़ वैदेशिक मामलों में बढ़ती जा रही है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति वुडरो विलसन ने कहा था, ''राष्ट्रपति की शक्तियों में सबसे बड़ी शक्ति वैदेशिक संबंधों पर उसका नियंत्रण है।'' विदेशी मामलों में गोपनीयता की आवश्यकता होती है। इसलिए कार्यपालिका व्यवस्थापिका की सहमति के बिना या उसे सूचना दिए बिना अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों में स्वविवेक से निर्णय ले लेती है। भारत के प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा ताशकंद समझौता तथा श्रीमती इंदिरा गाँधी का शिमला समझौता इस बात की पुष्टि करती है कि वैदेशिक मामलों का संचालन कार्यपालिका का विशेषाधिकार है।

संचार साधनों एवं प्रचार की भूमिका - संचार के साधनों के विकास के कारण कार्यपालिका का जनता से सीधा संपर्क हो गया है। रेडियो, टेलिविजन, फिल्म आदि माध्यमों से कार्यपालिका अपनी बातों तथा अपनी नीतियों को जनता के सामने रख सकती है, इसलिए वह बिना किसी माध्यम में जनता के प्रति उत्तरदायित्व निभाने लगी है। इस सीधे संपर्क के कारण कार्यपालिका की शक्तियों एवं कार्यों में वृद्धि हुई है। एलेन बाल ने कहा है, ''जनसंपर्क माध्यमों के उपयोग करने का अवसर तथा प्रचार की सुविधा कार्यपालिका की शक्ति को मजबूत बनानेवाला महत्त्वपूर्ण घटक है।'' अमेरिका में टेलिविजन के माध्यम से राष्ट्रपति जनता से सीधा संपर्क स्थापित

करने में समर्थ हुआ है। अन्य देशों में भी मुख्य कार्यपालिका रेडियो या टेलिविजन के माध्यम से प्रत्यक्ष ढंग से जनता को संबोधित करता है तथा अपना संदेश प्रसारित करता है।

शासन की धुरी - कार्यपालिका आज अधिकांश देशों में शासन की धुरी के रूप में काम करती है। समस्त प्रशासकीय यंत्र कार्यपालिका के इर्द-गिर्द घूमती है। ब्रिटेन के मंत्रिमंडल के संबंध में कहा गया है, ''यह वह धुरी है जिसके चारों ओर संपूर्ण राजनीतिक चक्र घूमता है।'' आज कार्यपालिका शासन के सभी अंगों के बीच समन्वय स्थापित करने का भी कार्य करती है। फलतः, कार्यपालिका के कार्यों की सूची में वृद्धि होना स्वभाविक है।

विधायिका के भंग करने की शक्ति - विधायिका को भंग करने की क्षमता के कारण भी कार्यपालिका ने अपनी शक्तियों में वृद्धि कर ली है। संसदीय-प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिमंडल लोकसभा को विघटित करवा सकती है, इसलिए व्यवस्थापिका इसके निर्णयों के चुनौती नहीं देती। इस स्थिति का लाभ उठाकर कार्यपालिका अधिक-से-अधिक क्षेत्रों में टांग अड़ाती है।

पिछले वर्षों में कार्यपालिका के अधिक-से-अधिक शक्तियों से सुसज्जित करना तथा अधिक-से-अधिक कार्यों से भर देना एक सामान्य प्रवृत्ति हो गई है। वर्तमान तनाव और संकट की मनःस्थिति के युग में लोग अपनी तथा देश की सुरक्षा के लिए कार्यपालिका पर अधिक-से-अधिक निर्भर रहना चाहते हैं। यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी देशों में संवैधानिक संशोधनों के द्वारा कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि है। लिप्सन ने कहा है, मतदाताओं द्वारा राज्य को सौंपा गया प्रत्येक नया कर्तव्य, शासन द्वारा प्राप्त की गई प्रत्येक अतिरिक्त कार्यों ने कार्यपालिका की सत्ता और महत्त्व में वृद्धि की है।'' कार्यपालिका तथा मुख्य कार्यपालक का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि संपूर्ण राजनीति व्यवस्था में वह चेतना-केंद्र हो गई है। अनेक कारणों से कार्यपालिका राजनीतिक मंच का रिंग-मास्टर बन गई है। ला पालम्बरा ने कहा है, ''कार्यपालिका के शक्ति में वृद्धि का कारण उसकी चालबाजी, जोड़ एवं कपट-प्रबंध करने की क्षमता तथा योग्यता है।''

6.6 कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में संबंध

कार्यपालिका की भूमिका, उसकी शक्तियों एवं कार्यों में विस्तार आदि की चर्चा करने के संदर्भ में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण करना आवश्यक है। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से व्यवस्थापिका राज्य की सर्वोच्च सत्ता है और कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है, परंतु व्यवहार में कार्यपालिका ही प्रधान हो जाती है।

संसदीय शासन.प्रणाली-संसदीय शासन.प्रणाली के अंतर्गत कार्यपालिका तथा विधायिका के बीच घनिष्ठ संबंध रहता है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं। साथ-ही-साथ व्यवस्थापिका पर नियंत्रण रखती है। व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर निम्नलिखित ढंग से नियंत्रण रखती है-

कार्यपालिका सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रथम लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होती है।

व्यवस्थापिका प्रश्नों द्वारा, वाद.विवाद के द्वारा, सरकारी नीति की आलोचना करके निंदा का प्रस्ताव पारित कर, स्थगन का प्रस्ताव पारित कर, कटौती का प्रस्ताव पारित कर कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

व्यवस्थापिका का प्रथम सदन मंत्रिमंडल के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर मंत्रिमंडल को अपदस्थ कर सकता है।

व्यवस्थापिका विभिन्न समितियों का गठन कर प्रशासकीय विभागों के कार्यों की जाँच-पड़ताल कर सकती है।

अध्यक्षात्मक शासन.प्रणाली- अध्यक्षात्मक शासन.प्रणाली के अंतर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच घनिष्ठ संबंध नहीं रहता, फिर भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका के कुछ कार्यों पर नियंत्रण रखती है। अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियाँ या संधियाँ तब तक प्रभावी नहीं होती, जब तक कि उनपर सिनेट का अनुसमर्थन प्राप्त न हो जाए। अन्य प्रकार से भी सिनेट राष्ट्रपति पर नियंत्रण रखती है।

वास्तविक स्थिति-आधुनिक युग के संदर्भ में व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण एक सैद्धांतिक तथ्य है। व्यवहार में कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका को नियंत्रित करती है। संसदीय शासन.प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिमंडल लोकसभा को विघटित करने की क्षमता रखती है। व्यवस्थापिका के पास समय के अभाव, विधेयकों में तकनीकी प्रश्नों का उदय, आदि के कारण व्यवस्थापिका अपनी शक्तियों को कार्यपालिका के सम्मुख समर्पित करती जा रही है। आधुनिक संसदों के पास न तो इतना समय है और न इतनी क्षमता है कि वे संपूर्ण कार्य को स्वयं संपादित करें। व्यवस्थापिकाएं केवल नीति निर्धारित करके मूल बातों के संबंध में कानून बनाकर विस्तृत विवेचना का कार्य कार्यपालिका पर छोड़ देती है। प्रदत्त विधान तथा कार्यपालिका द्वारा अध्यादेश जारी करने की क्षमता ने भी व्यवस्थापिका को अधीनस्थ संस्था के रूप में काम करने के लिए विवश कर दिया है।

संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधि-निर्माण का संपूर्ण कार्य मंत्रिमंडल का रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप में कार्यपालिका विधायन को प्रभावित करती है। अमेरिका में राष्ट्रपति संदेश भेजकर या निषेधाधिकार का प्रयोग कर विधायन को प्रभावित करता है।

उपर्युक्त तथ्य इस बात का समर्थन करते हैं कि व्यवस्थापिका का प्रभाव कम होता जा रहा है और कार्यपालिका अपना प्रभाव बढ़ाती जा रही है। बर्नार्ड ब्राउन ने लिखा है, ''व्यवस्थापिका की स्थापना का उद्देश्य कार्यपालिका की शक्ति को सीमित और नियंत्रित करना है, लेकिन आधुनिक युग में शक्ति का केंद्र व्यवस्थापिका से-हटकर कार्यपालिका की ओर जा रहा है।'' निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते है कि सिद्धांत में आज भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने का दावा करती है, पंरतु व्यवस्थापिका पर कार्यपालिका का नियंत्रण रहता है।

वस्तुतः, आज के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका मिलकर कार्यों का निष्पादन करने का प्रयास करती है। कार्यपालिका की शक्तियों एवं प्रभाव में वृद्धि हुई है, परंतु उसकी शक्तियों का स्त्रोत व्यवस्थापिका ही है।

कार्यपालिका-व्यवस्थापिका-संबंध के संदर्भ में यह कहना उपयुक्त होगा कि आज का विवाद कार्यपालिका-व्यवस्थापिका के सापेक्ष महत्त्व का नहीं है। ये दोनों राजनीतिक दलों के माध्यम से संयुक्त व सहयोगी बन जाते हैं। रिचार्ड न्यूस्टेड ने ठीक ही कहा है, ''आज वास्तविक शक्ति-संघर्ष मुख्य कार्यपालिका तथा व्यवस्थाविका के बीच न होकर यथार्थ में राजनीतिक नेताओं व्यवस्थापिका और कार्यपालिका समान रूप से सरकार का नियंत्रण नौकरशाही के हाथों में खोती जा रही है।''

अभ्यास प्रश्न

1.राजनीतिक कार्यपालिका का उदाहरण स्पष्ट कीजिए।

2."अध्यक्षात्मक कार्यपालिका वह है जिसमें कार्यपालिका एवं उसके मंत्री अपने कार्यकाल, नीति एवं कार्यों के लिए वैधानिक दृष्टि से विधानपालिका के नियंत्रण से मुक्त है।" यह कथन किसका है?

6.8सारांश

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते है कि सरकार के प्रमुख अंगों में कार्यपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कार्यपालिका का सर्वप्रमुख कार्य प्रशासकीय, कूटनीतिज्ञ, सैनिक, विधिनिर्माण, न्यायिक एवं वित्तीय कार्य प्रमुख है। अतः हम देखते है कि आधुनिक राज्यों के सफल संचालन के लिए कार्यपालिका की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

6.9शब्दावली

कार्यपालिका-कार्यपालिका सरकार का वह अंग है, जिसका कार्य व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों का कार्यान्वयन करना है। विधियों को लागू करने वाली शक्ति को कार्यपालिका कहा जाता है।

6.10अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. भारत में प्रधानमंत्री, मंत्रीपरिषद् राजनीतिक कार्यपालिका के उदाहरण है। 2. गार्नर

6.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11

2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13

3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

6.12सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory

2. Robert Dahl: A preface to democratic theory

3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics

4. K.C. Wheare: Modern Constitution

6.13निबन्धात्मक प्रश्न

1.कार्यपालिका से क्या समझते हैं ? उसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

2. कार्यपालिकाके गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए।

इकाई 7- न्यायपालिका

इकाई की रुपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 न्यायपालिका का महत्व

7.4 न्यायपालिका के कार्य

7.5 न्यायपालिका की स्वतंत्रता

7.6 न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर आधुनिक विवाद

7.7 न्यायिक पुनर्विलोकन: अर्थ एवं परिभाषा

7.8 सारांश

7.9 शब्दावली

7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.13 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

सरकार राज्य का एक प्रमुख तत्त्व है अर्थात हम कह सकते है कि राज्य की कल्पना सरकार के बिना नहीं की जा सकती। सरकार के कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जहां तक न्यायपालिका का संबंध है तो इसका प्रमुख कार्य देश के लिए विधियों की व्याख्या करना एवं उसके उल्लघन करने वालों को दण्डित करना है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- सरकार के प्रमुख अंगों में न्यायपालिका के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
- न्यायपालिका के संगठन एवं कार्यों के बारे में विस्तार से अध्ययन सामग्री प्राप्त कर सकते हैं।
- न्यायपालिका की शक्तियों में वृद्धि के क्या कारण है उसका भी तुलनात्मक अध्ययन प्राप्त किया जा सकता है।

7.3 न्यायपालिका का महत्व

समाज की उत्पत्ति के साथ-साथ न्याय की मांग का भी सिलसिला प्रारंभ हुआ। अनेक विद्धानो ने कहा है कि मनुष्य स्वभाव से संघर्षशील प्राणी है। मनुष्यो के पारस्परिक संघर्षों एंव मतभेदो ने न्याय को जन्म दिया। प्राचीन कालमेंएक या दो व्यक्ति मिलकर व्यक्तियों के झगडों का निबटारा करते थे। ज्यो-ज्यो समाज सभ्य और उन्न्त होता गया, न्याय पद्धति में भी विकास होता गया। आदिकाल से लेकर आज तक किसी-न-किसी रूप में न्याय विभाग का अस्तित्व सदैव रहता है। तथा सामान्य जनता के दृष्टिकोण से न्यायिक कार्यों का संपादन सदा से ही महत्व का विषय रहा है। गार्नर के कथानुसार, ''न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नही की जा सकती है।'' मनुष्यो के पारस्परिक संघर्षो और मतभेदो को दूर करने तथा न्याय दे नेवाली संस्था को न्यायपालिका कहा जाता है।

सरकार के तीन अंगो-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका-मे न्यायपालिका का विशिष्ट महत्व है। सरकार के जितने भी मुख्य कार्य है, उनमे न्यायकार्य निःसंदेह अति महत्वपूर्ण है, क्योकि इसका संबंध नागरिको से होता है। चाहे कानून के निर्माण की मशीनरी कितनी भी विस्तृत और वैज्ञानिक क्यो न हो, चाहे कार्यपालिका का संगठन कितना भी पूर्ण क्यो न हो, परंतु फिर भी नागरिक का जीवन दुखीः हो सकता है और उसके जान-माल को खतरा उत्पन्न हो सकता है, यदि न्याय करनेमेंदेर हो जाए या न्याय में दोष रह जाए अथवा कानून की व्याख्या पक्षपातपूर्ण या भ्रामक हो। ब्राइस ने न्यायपालिका के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, ''न्याय विभाग की कुशलता से बढकर सरकार की उत्तमता की दूसरी कोई भी कसौटी नही है क्योकि किसी ओर चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितो पर उतना प्रभाव नही पडता जितना कि उसे इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र एवं निष्पक्ष न्यायशासन पर निर्भर रह सकता है।

न्यायपालिका लोकतंत्र का प्रहरी है। कानून का पालन करने तथा कानून के प्रति आस्था जगाने मे, न्यायपालिका की विशिष्ट भूमिका रहती है। लोकतंत्र में जनता को समानता पर आधृत न्याय मिलना आवश्यक है। नागरिक की स्वतंत्रता, समानता तथा उसके मौलिक अधिकारो की रक्षा करने में भी न्यायपालिका विशिष्ट भूमिका अदा करती है।

संघात्मक शासन में न्यायपालिका का विशेष महत्व है। संघात्मक शासन में संघ और ईकाइयो के बीच सदैव संघर्ष की संभावना रहती है। न्यायपालिका के अभाव में इस संघर्ष को दूर नही किया जा सकता। अतः एक स्वतंत्र एव शक्तिशाली न्यायपालिका संघात्मक शासन की प्रमुख विशेषता है।

उपर्युक्त विश्लेषण इस बात को स्पष्ट करता है कि न्यायपालिका आधुनिक समाज की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

न्यायपालिका के महत्व को स्पष्ट रूप से समझने के लिए निम्नलिखित बिंदुओ का उल्लेख करना आवश्यक है। ये बिंदु न्यायपालिका के महत्व के सांक्षी है।

1. न्यायपालिका सभ्य समाज का प्रतीक है-अगर राज्य में न्यायपालिका नही हो तो नागरिक आपस में लड़ते-झगड़ते रहेंगे और समाजमेंअराजकता का साम्राज्य बना रहेगा। न्यायपालिका नागरिको के झगडो और मतभेदो को दूर कर समाज में व्यवस्था कायम रखने में सहायक होती है।

2. कानून के प्रति आस्था-न्यायपालिका देश के प्रचलित कानून के आधार पर लोगो के झगड़ो को दूर कर लोगो के मन में कानून के प्रति आस्था पैदा करती है।

3. विधि का शासन-विधि के शासन की स्थापना में भी न्यायपालिका की महत्वपूर्ण भूमिका है। यदि न्यायपालिका नही रहे तो राज्य में व्यक्ति विशेष का अधिनायकवाद स्थापित हो सकता है। कानून की मर्यादा को प्रसारित कर न्यायपालिका विधि का शासन लागू करती है।

4. लोकतंत्र का प्रहरी-समय पर कानून की व्याख्या कर तथा जनता के प्रतिनिधियो द्वारा निर्मित कानून तथा परंपराओ को मान्यता देकर न्यायपालिका लोकतंत्र की रक्षा करने में समर्थ होती है।

5. नागरिको के अधिकारो एंव स्वतंत्रता की रक्षा-न्यायपालिका नागरिको के अधिकारो एवं स्वतंत्रता की रक्षा करनेमेंभी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यही कारण है कि न्यायपालिका को नागरिको के मौलिक अधिकारो का संरक्षक कहा जाता है।

6. संघात्मक शासन में महत्व- संघात्मक शासन में न्यायपालिका का विशेष महत्व है। न्यायपालिका संघ और इकाईयो के बीचके विवादो को दूर करने में विशेष सहायक सिद्ध होती है। स्वतंत्र और शक्तिशाली न्यायपालिका संघात्मक शासन की पूर्वशर्त है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते है कि एक सभ्य समाज के लिए न्यायपालिका अनिवार्य शर्त है। ब्राइस के शब्द मे, यदि न्याय का दीप अंधेरे में बुझ जाए तो वह अंधेरा कितना गहन होगा, इसकी कल्पना नही की जा सकती।''

7.4 न्यायपालिका के कार्य

सरकार के अन्य अंगो की तरह न्यायपालिका के कार्य भी इंगित कर दिए गए है। आधुनिक राज्यमेंन्यायपालिका निम्नलिखित मुख्य कार्यों का संपादन करती है:-

1. न्यायपालिका का सर्वप्रथम तथा सबसे महत्वपूर्ण कार्य है, झगड़ों एंव विवादो का फैसला करना। पुराने जमानेमेंपंचो के द्वारा आपसी झगड़ों को दूर किया जाता है। अब यह काम न्यायपालिका करती है। न्यायपालिका नागरिको के आपसी झगड़ों एंव विवादो का फैसला करती है।

2. न्यायपालिका कानून का उल्लंघन करनेवालों को दंड देती है। समाजमेंअनेक प्रकार के कानून बनाए जाते है। यदि इन कानूनों का पालन नही हो तो समाज में विश्रंखलता तथा अराजकता का साम्राज्य फैल जाएगा। न्यायपालिका कानून का उल्लंघन करनेवालें को दंड देकर कानून की मर्यादा बरकरार रखती है।

3. कानूनो की व्याख्या करना भी न्यायपालिका का मुख्य कार्य है। विधायिका द्वारा पारित कानूनोंमेंकई अस्पष्टताएँ तथा र्कइं त्रुटियाँ रह जाती है। न्यायालय इन अस्पष्टताओं की व्याख्या कर निंहित त्रुटियों को दूर करती है।

4. संविधान की रक्षा करना न्यायपालिका का सबसे महत्वपूर्ण एंव पुनीत कार्य है। संविधान देश की शासन-व्यवस्था का आधार है। यह देश का मौलिक कानून संविधान की पवित्रता बनी रहती है।

5. न्यायपालिका कानून-निर्माण का भी कार्य करती है। समय-समय पर कानूनों की व्याख्या करने के क्रममेंन्यायपालिका नए कानून का भी निर्माण करती है। औचित्य के आधार पर भी कानून का निर्माण किया जाता है। न्यायपालिका द्वारा निर्मित कानून को केस-लॉ कहा जाता है। लिकॉक के कथानुसार,''न्यायधीशो द्वारा दिया गया निर्णय अप्रत्यक्षा से कानून पूरक होता है। इस दृष्टि से न्यायालय अर्द्ध-विधानमंडल का रूप धारण करके कई वर्तमान कानूनों का निर्माण करता है।''

6. न्यायपालिका पर नागरिक के अधिकारों की रक्षा करने की भी जिम्मेदारी रहती है। न्यायपालिका को नागरिकों के अधिकारों का संरक्षक माना जाता है। मौलिक अधिकारों की रक्षा के क्रम में न्यायालय विभिन्न प्रकार के लेख एंव आदेश जारी करता है। भारत के अनुच्छेद 32 एवं 226 के अंतर्गत नागरिको के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय एंव उच्च न्यायालय क्रमशः आदेश एवं लेख जारी कर सकते है।

7. न्यायपालिका को प्रशासनिंक विभागों या प्राधिकरणों द्वारा दिए गए निर्णयों के विरूद्ध अपील सुननें का अधिकार है। भारत में न्यायालय श्रम न्यायधिकरण, आयकर विभाग, चुनाव आयोग आदि के निर्णयों के विरूद्ध अपील सुनता है।

8. अनेक राज्यों में न्यायपालिका परामर्श देन का भी कार्य करती है। भारत के कई मामलो में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श ले सकता है। ब्रिटेन में प्रिवी कौसिल भी परामर्श देनें का कार्य करती थीं।

9. न्यायपालिका प्रशासकीय कार्य भी संपादित करतीं है। अपने अधीन काम करनेवाले कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनकीं सेवा-संबंधी शर्तों को निर्धारित करना, अधींनस्थ न्यायालयों का निरींक्षण एवं अधीक्षण न्यायपालिका के कुछ प्रशासकींय कार्य है।

आधुनिक युग में न्यायपालिका के कार्योंमेंव्यापकता और विविधता दोनों पाई जाती है। प्रो0 मसालदन ने कहा है, ''न्यायपालिका के समस्त कार्यों को दो भागोंमेंरखा जा सकता है-एक सरकार के अन्य अंगो पर नियंत्रण लगाने का कार्य,दूसरा व्यक्ति के अधिकारों से संबंधित कार्य।'' आज के संदर्भमेंदोनों प्रकार के कार्य समान महत्व के हो गए है और न्यायपालिका दोनों पर समानरूप से ध्यान देती है।

7.5 न्यायपालिका की स्वतंत्रता

न्यायपालिका की प्रभावशीलता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका को स्वतंत्रता प्रदान की जांए। लोकतंत्र की रक्षा सही अर्थमेंतभी की जा सकती है जब न्यायपालिका को सशक्त और स्वतंत्र बनाया जाए। संघात्मक शासन के अंतर्गत तो न्यायपालिका का स्वतंत्र होना अनिवार्य है। साम्यवादीं देशों को छोड़कर प्रायः सभी देशों में न्यायपालिका को स्वतंत्र बनाए रखने का प्रयास किया गया है। अनेक देशों ने अपने संविधान के अंतर्गत न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा के संबंध में आवश्यक प्रावधान किए है। अमेरिका, भारत आदि देशों में न्यायपालिका की स्वतंत्रा पर अत्यधिक बल दिया गया है। न्यायपालिका की स्वतंत्रा के लिए कुछ विधियां है जिन्हे प्रत्येक देशों मेंअपनाया जाता है:-

1. न्यायपालिका की स्वतंत्रा के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति सबसे महत्वपूर्ण परिवर्त्य है। न्यायपालिका के न्यायाधीशों के चुनाव के चार मुख्य तरीके हैः-

i.कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति,

ii.व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन,

iii.जनता द्वारा चुनाव, और

iv.न्यायिक सेवा प्रतियोगिता द्वारा चुनाव।

आम तौर से न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका के द्वारा ही की जाती है। अनेक दोषांे के बावजूद कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति को सर्वाधिक समर्थन मिला है। इस संबंधमेंलास्की ने कहा है, इस विषयमेंसभी बातो को देखते हुए न्यायाधीशों के पदों को राजनीति का शिकार नही बनना चाहिए।

कुछ देशों में न्यायाधीशों को व्यवस्थापिका या जनता द्वारा निर्वाचित करने की व्यवस्था की गई है। जहां तक निर्वाचित न्यायाधीशों का प्रश्न है, इसके पक्ष और विपक्ष में तर्क दिए गए है, परंतु अधिकांश विद्वानों ने इस पद्धति को अस्वीकार किया है।

व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित न्यायाधीशों की पद्धति को भी सर्वमान्यता नही मिली है, क्योंकि समीक्षकों का यह मत है कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित न्यायपालिका के हाथों की कठपुतली बन जाएगी। कुल मिलाकर स्थिति यह है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता के दृष्टिकोंण से मुख्य कार्यपालक द्वारा की गई नियुक्ति बेंहतर है, बशर्ते उसके अंतर्गत राजनीतिक आधार न हो।

2. न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति का आधार भी एक प्रबल तत्व है। निष्पक्ष स्वतंत्रता का अर्थ है कि न्यायाधीशों में भ्रष्टाचार नही होना चाहिए और उन पर विधानमंडल तथा कार्यकारिणीं का नियंत्रण नही होना चाहिए।'' अच्छी योग्यता तथा अच्छे चरित्रवाला व्यक्ति अच्छा न्याधींश हो सकता है।

3. न्यायपालिका को स्वतंत्र बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह राजनीतिक दलबंदी से ऊपर हो। सोवियत रूसमेंसाम्यवादी दल के सदस्य या समर्थक ही न्यायधीश नियुक्त होते है, इसलिए सोवियत रूसमेंन्यायपालिका को स्वतंत्र नही कहा जा सकता है। स्वतंत्रता और निष्पक्षता के आधार पर ही अमेंरिका के सर्वोंच्च न्यायलय के न्यायाधीशों के प्रारंभ में राजनीतिक मसलों पर परामर्श देने से अस्वींकार कर दिया था।

4. न्यायाधीशों की पदच्युति भी न्यायपालिका की स्वतंत्रता का एक प्रमुख बिंदु है। न्यायाधीशों के पद की सुरक्षा न्यायपालिका की स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण पहलू है। यदि न्यायाधीशों को कार्यपालिका मनमाने ढंग से हटा देती है तो निश्चित रूप से न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अपहरण होगा। अपने पद पर बने रहने के लिए न्यायाधीशों कार्यपालिका के विरूद्ध जाने का प्रयास नही करेगें, यही कारण है कि सभी देशों में न्यायाधीशोंको पदच्युत करने के लिए जटिल प्रक्रिया अपनाई जाती है। भारत और अमेरिकामेंसर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को हटाने के लिए विधायिका के दोनों सदनों द्वारा प्रस्ताव पारित होना आवश्यक है। न्यायाधीशों को हटाने की जटिल प्रक्रिया न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक शर्त है।

5.न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए न्यायाधीशों के निश्चित एंव पर्याप्त वेतन-भत्ते आवश्यक है। कम वेतन और भत्ते से न्यायाधीशों को भ्रष्ट होने का भय रहता है। हैमिल्टन के कथानुसार,''यह मानव-स्वभाव है कि जो मनुष्य अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्तिसंपन्न है, उसके पास संकल्प का भी बडा बल होता है।'' भारतमेंआपातकाल

को छोडकर न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्तेमेंकटौती नही होती, फिर भी यह कहा जा सकता है कि भारतमेंन्यायाधीशों के वेतन एंव भत्ते अपर्याप्त है। अभी कुछ दिनों पूर्व भारत के उच्चतम एंव उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्तेमेंवृद्धिं की गई है।

6. न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए लंबी कार्यावधि आवश्यक है। अमेरिकामेंन्यायधीश 70 वर्ष तक अपने पद पर बने रहते है, यद्यपि सांविधानिक प्रावधानों के अंतर्गत उनके अवकाश-ग्रहण के लिए आयु निर्धारित नही है। छोटी कार्यावधिं के कारण न्यायधीश हमेशा संशकित रहते है। भारतमेंभी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश 65 वर्ष तक अपने पद पर बने रहते है।

7. ग्रहण के बाद नियुक्ति नही-न्यायपालिका और कार्यपालिका का पृथक्करण न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है। अगर न्यायपालिका और कार्यपालिका शक्तियाँ एक ही व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के एक समूहमेंहो न्याय-वितरण का कार्य निष्पक्षता से नही हो सकता। उसी प्रकार यदि न्यायपालिका कार्यपालिका के मातहत हो तो न्यायपालिका स्वतंत्र और निष्पक्ष ढंग से न्याय-वितरण का कार्य नही कर सकती।

उपर्युक्त विश्लेषण इस बात को प्रतिपादित करता है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए कुछ शर्तो का पालन होना आवश्यक है। भारत और अमेरिकामेंन्यायपालिका के स्वतंत्रता के लिए संविधानमेंआवश्यक प्रावधान रखे गए है। व्यवहारमेंभी न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए प्रयास किया गया है। भारत में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानांतरण को लेकर व्यापक विवाद उठ खडा हुआ था। न्यायाधीशों के स्थानांतरण को न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अवरोधक समझा गया था। पूरे राष्ट्रीय स्तर पर इस विवाद पर विचार-विर्मश किया गया। ब्रिटेन में न्यायपालिका उस सीमा तक स्वतंत्र नही है जिस सीमा तक वह भारत और अमेरिका में है।

7.6 न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर आधुनिक विवाद

न्यायपालिका की स्वतंत्रता के संबंधमेंएक विवाद उठ खडा हुआ है। आज राज्योंमेंअनेक प्रशासनिक न्यायालयों तथा प्रशासकीय अधिकरणों का उदय हो गया है जिसके कारण प्रशासकीय तथा न्यायिक संरचनाओ के बीच विभाजन-रेखां खींचना कठिन हो गया है। एलेन बाल ने लिखा है, ''न्यायाधीश और न्यायालय समग्र राजनीतिक प्रक्रिया के महत्वपूर्ण पहलू है।'' राबर्ट डाल ने भी अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है, ''संयुक्त राज्य के सर्वोत्तम न्यायालय को एकमात्र विधिक संस्था समझना अमेरिकी राजनीतिक पद्धति में उसके महत्व को कम आकंना है, क्योंकि वह राजनीतिक संस्था भी है।'' वर्तमान दशक में भारत के सर्वोच्च न्यायालय को लेकर जो विवाद चल रहा है, उसमें भी मूल प्रश्न यही है कि विधिक प्रक्रिया राजनीतिक प्रक्रिया से दूर नही है। इसी विधिक संरचना राजनीति संस्कृति तथा न्यायाधीशों के राजनीतिक एंव सामाजिक मूल्यों के बीच अंतःक्रिया होती रहती है जो सारी विधिक पद्धति को चयन प्राथमिकताओ और संघर्ष के घेरें में दृढतापूर्वक खींच लाती है। अनेक विद्वानो का मत है कि न्यायिक प्रक्रिया को अन्य राजनीतिक प्रक्रियाओं से पृथक, स्वतंत्र या अलग मानना वास्तविकताओ को अनदेखी करना है। आधुनिक युग में न्यायपालिका को अन्य राजनीतिक संरचनाओं से अलग माननें के बजाय उसका सहयोगी मानना ज्यादा हितकर है। इसलिए न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर बल देना आवश्यक है। साम्यवादी देशों में न्यायपालिका की स्वतंत्रता का प्रश्न एक गौण प्रश्न है। सोवियत रूस में न्यायपालिका कम्यूनिस्ट पार्टी के मातहत काम करती है वहा न्यायपालिका सर्वोच्च सोवियत के विधेयकों तथा पार्टी के हित एंव आदेशों के विरूद्ध स्वतंत्र रूपमेंनिर्णय नही दे सकती। इसलिए सोवियत रूस तथा साम्यवादी देशों मेंन्यायपालिका की स्वतंत्रता का कोई महत्व नही है और न ही यह विवादास्पद प्रश्न है। उपर्युक्त विचारधारा में तर्कबल रहने के बावजूद

आज भी अधिकांश विचारक मानते है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता को यथासंभव बरकरार रखने की आवश्यकता है।

7.7 न्यायिक पुनर्विलोकन: अर्थ एवं परिभाषा

न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालय की वह शक्ति है, जिसके द्वारा न्यायालय कानूनों की संविधानिकता की जांच कर सकता है। कॉरविन ने न्यायिक पुनर्विलोकन की परिभाषा देते हुए कहा है,''न्यायिक पुनर्विलोकन का अभिप्राय न्यायालयों की उस शक्ति से है, जो उन्हे अपने न्याय-क्षेत्र के अंतर्गत लागू होनेवाले व्यवस्थापिका के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय देने के संबंध में प्राप्त है, जिन्हे वे अवैध और व्यर्थ समझे।'' एच0 जे0 अब्राहम के कथानुसार, ''न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालय की वह शक्ति है जो किसी भी कानून या सरकारी कार्य को असंविधानिक घोषित कर सकती है और उसके प्रयोग को रोक सकती है।'' मैक्रीडिस तथा ब्राउन के अनुसार, ''न्यायिक पुनर्विलोकन का आशय न्यायाधीशों की उस शक्ति से है, जिसके अधीन वे उच्चतर कानून के नाम पर उन्हे अमान्य ठहरा सके।'' इनसायक्लोपिडिया ब्रिटानिका मेंभी न्यायिक पुनर्विलोकन की स्पष्ट परिभाषा दी गई है। इसके अनुसार, ''न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालयो की वह शक्ति है, जिसके द्वारा न्यायालय किसी देश की सरकार के विधायिनी, कार्यकारिणी और प्रशासकीय अंगो के कार्यों का परीक्षण करता है तथा यह देखता है कि वे संविधान के प्रावधानों के अनुकूल है''

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट होता है कि न्यायालय को विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की जांच करने की शक्ति है। वह संविधान का संरक्षक है। इस हैसियत से यह देखनां उसका पुनीत कर्तव्य है कि विधायिका का कोई कानून देश के मौलिक कानून-संविधान के किसी प्रावधान के प्रतिकूल नही है। अमेरिका में सर्वप्रथम 1803 ई0 में मारबरी बनाम मेडिसन के मुकदमे में मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। न्यायाधीश मार्शल ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी कि न्यायालय कानून की वैधानिकता की जांच कर सकता है। संविधान के किसी भी प्रावधान का उल्लंघन करने पर वह उसे अवैध घोषित कर सकता है तथा उसे लागे करने से अस्वीकार कर सकता है।

अभ्यास प्रश्न

1. न्यायपालिका के दो कार्य बताइए।
2. शक्ति प्रथक्करण सिद्धांत किसने दिया है।

7.8 सारांश

सरकार के तीन अंगो-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका-मे न्यायपालिका का विशिष्ट महत्व है। सरकार के जितने भी मुख्य कार्य है, उनमे न्यायकार्य निःसंदेह अति महत्वपूर्ण है, क्योकि इसका संबंध नागरिको से होता है। चाहे कानून के निर्माण की मशीनरी कितनी भी विस्तृत और वैज्ञानिक क्यो न हो, चाहे कार्यपालिका का संगठन कितना भी पूर्ण क्यो न हो, परंतु फिर भी नागरिक का जीवन दुखीः हो सकता है और उसके जान-माल को खतरा उत्पन्न हो सकता है, यदि न्याय करनेमेंदेर हो जाए या न्याय में दोष रह जाए अथवा कानून की व्याख्या पक्षपातपूर्ण या भ्रामक हो। ब्राइस ने न्यायपालिका के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, ''न्याय विभाग की कुशलता से बढकर सरकार की उत्तमता की दूसरी कोई भी कसौटी नही है क्योकि किसी ओर चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितो पर उतना प्रभाव नही पडता जितना कि उसे इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र एवं निष्पक्ष न्यायशासन पर निर्भर रह सकता है।

7.9 शब्दावली

न्यायपालिका-मनुष्यों के पारस्परिक संघर्षों और मतभेदो को दूर करने तथा न्याय देनेवाली संस्था को न्यायपालिका कहा जाता है। सरकार के तीन अंगो-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका-मे न्यायपालिका का विशिष्ट महत्व है। सरकार के जितने भी मुख्य कार्य है, उनमे न्यायकार्य निःसंदेह अति महत्वपूर्ण है, क्योकि इसका संबंध नागरिको से होता है।

7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. कानूनों की व्याख्या करना एवं नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना। 2. मॉन्टेस्क्यू

7.11संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11
2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13
3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

7.12सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory
2. Robert Dahl: A preface to democratic theory
3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics
4. K.C. Wheare: Modern Constitution

7.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्यायपालिका से आप क्या समझते हैं? इसके कार्यों को स्पष्ट कीजिए।

2.न्यायपालिका प्रजातन्त्र की आत्मा है? व्याख्या कीजिए।

इकाई 8 एकात्मक एवं संघात्मक शासन प्रणाली

इकाई की संरचना

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 एकात्मक शासन- अर्थ एवं परिभाषा

8.4 एकात्मक शासन की विशेषताएँ

8.5 एकात्मक शासन के गुण-दोष

8.5.1 एकात्मक शासन के गुण

8.5.2 एकात्मक शासन के दोष

8.6 संघात्मक शासन - अर्थ एवं परिभाषा

8.7 संघात्मक शासन की विशेषताएँ

8.8 संघात्मक शासन के गुण-दोष

8.8.1 संघात्मक शासन के गुण

8.8.2 संघात्मक शासन के दोष

8.9 संघ के लिए अपेक्षित शर्तें

8.10 एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली में अंतर

8.11 सारांश

8.12 पारिभाषिक शब्दावली

8.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

8.15 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

8.16 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

वर्तमान में छोटे राज्यों के साथ बड़े राज्य भी अस्तित्व में हैं। इन बड़े और विस्तृत राज्यों का शासन एक केन्द्रीय आधार पर या एक स्थान से कुशलता के साथ नहीं किया जा सकता। इसीलिए शासन की सुविधा की दृष्टि से समस्त राज्य को कई इकाइयों में बांट दिया जाता है। तत्पश्चात केन्द्र एवं इकाइयों में शक्तियों का विभाजन किया जाता है। संविधान द्वारा क्षेत्र के आधार पर शक्तियों का जो केन्द्रीकरण या वितरण किया जाता है और देश के शासन में केन्द्रीय और स्थानीय इकाइयों के बीच जों सम्बन्ध होता है,उसके आधार पर शासन व्यवस्थाओं को एकात्मक और संघात्मक दो रूपों में वर्गीकृत किया जाता है।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढने के उपरान्त आप आप-

1. एकात्मक शासन प्रणाली की परिभाषा, उसकी विशेषताएं व गुण-दोष के विषय में जान पायेंगे।
2. संघात्मक शासन प्रणाली की परिभाषा, उसकी विशेषताएं व गुण-दोष के विषय में जान पायेंगे।
3. संघ के लिए अपेक्षित शर्तों के विषय में जानकारी ले पायेंगे।
4. एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली में अंतर को जान पायेंगे।

8.3 एकात्मक शासन प्रणाली का अर्थ एवं परिभाषा

एकात्मक शासन व्यवस्था में, शक्तियों का केन्द्रीकरण होता है। संविधान द्वारा शासन की समस्त शक्तियॉं केवल केन्द्रीय सरकार को ही सौंपी जाती हैं तथा इकाइयों को शासन की शक्तियॉं केन्द्र से प्राप्त होती हैं। स्थानीय अथवा इकाइयों की सरकारों का अस्तित्व एवं शक्तियॉं केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करती है। एकात्मक शासन व्यवस्थाओं के प्रमुख उदाहरण हैं- ब्रिटेन, फ्रांस,चीन और बेल्जियम।

विभिन्न विद्वानों ने एकात्मक शासन की परिभाषाएँ दी हैं-

सी0एफ0स्ट्रांग के अनुसार ''एकात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार सर्वोच्च होती है तथा सम्पूर्ण शासन एक केन्द्रीय सरकार के अधीन संगठित होता है और उसके अधीन जो भी क्षेत्रीय प्रशासन कार्य करता है, उसकी शक्तियॉं उसे केन्द्र सरकार से प्राप्त होती हैं।''

फाइनर के शब्दों में ''एकात्मक शासन वह शासन है जिसमें सम्पूर्ण सत्ता, शक्ति, केन्द्र में निहित होती है और जिसकी इच्छा एवं अभिकरण पूर्ण क्षेत्र पर वैद्य रूप से मान्य होते हैं।''

प्रो0गार्नर के अनुसार ''एकात्मक शासन, शासन का वह रूप है जिसमें शासन की सर्वोच्च शक्ति संविधान के माध्यम से एक केन्द्रीय सरकार को प्राप्त होती है तथा केन्द्र एवं स्थानीय सरकार के बीच संवैधानिक शक्ति का विभाजन नही होता और केन्द्र सरकार से ही स्थानीय सरकारों को शक्ति एवं स्वतंत्रता प्राप्त होती है।''

डायसी के शब्दों में ''एकात्मक राज्य में कानून बनाने की समस्त शक्तियॉं केन्द्रीय सत्ता के हाथों में निवास करती हैं।''

विलोबी के शब्दों में ''एकात्मक शासन में शासन के सम्पूर्ण अधिकार मौलिक रूप से एक केन्द्रीय सरकार में निहित रहते हैं तथा केन्द्रीय सरकार अपनी इच्छानुसार शक्तियों का वितरण इकाइयों में करती है।''

8.4 एकात्मक शासन प्रणाली के विशेषताएं

एकात्मक शासन प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

1. शासन की पूर्ण शक्ति केन्द्र में निहित- एकात्मक शासन की प्रमुख विशेषता यह है कि शासन कार्य की समस्त शक्तियॉं केन्द्रीय सरकार में निहित रहती हैं। शासन की सुविधा के लिए राज्य को प्रदेशों एवं प्रान्तों में बॉंटा जा सकता है किन्तु इन प्रदेशों व प्रान्त सरकारों को शासन कार्य के लिए स्वतंत्र शक्तियॉं प्राप्त नहीं होती। केन्द्र ही उन्हें आवश्यकतानुसार शक्तियॉं देता है। उन्हें केन्द्र के अधीन रहकर ही कार्य करना होता है और इनका अस्तित्व पूर्णतः केन्द्र सरकार की इच्छा पर निर्भर रहता है।

2. इकहरी नागरिकता- एकात्मक शासन में नागरिकों को इकहरी नागरिकता(केन्द्र की) प्राप्त होती है। जबकि संघात्मक शासन में केन्द्र व राज्यों की पृथक-पृथक यानि दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है।

3. एक संविधान- एकात्मक शासन में सम्पूर्ण राष्ट्र का एक संविधान होता है। इकाइयों के लिए कोई अलग संविधान नहीं होता। संघात्मक शासन में कहीं-कहीं पर इकाइयों के अलग-अलग संविधान भी होते हैं। जैसे भारत में जम्मू-कश्मीर राज्य का अलग संविधान हैं। एकात्मक शासन वाले राज्यों में ऐसा नहीं होता।

8.5 एकात्मक शासन व्यवस्था के गुण-दोष

8.5.1 एकात्मक शासन प्रणाली के गुण

1. शासन में एकरूपता व शक्ति सम्पन्नता- एकात्मक शासन व्यवस्था में शासन में एकरूपता पाई जाती है। सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एक सा कानून होता है और केन्द्र के निर्देशन में उसे समान रूप से सर्वत्र लागू किया जाता है। फलतः पूरे राष्ट्र के शासन कार्यों में एकरूपता बनी रहती है। शासन की इस एकरूपता के कारण शासन-शक्ति संगठित रहती है, शासन कार्यों में दृढ़ता एवं मजबूती आ जाती है और संकट के समय यह शीघ्र निर्णय लेने के लिए सक्षम हो जाता है।

2. राष्ट्रीय एकता में वृद्धि- एकात्मक शासन व्यवस्था में सम्पूर्ण राज्य में एक सा कानून, एक सी शासन व्यवस्था होने तथा सभी को एक समान न्याय मिलने के कारण, आपसी मतभेद पैदा नहीं हो पाते। सभी के साथ एक सा व्यवहार होने के कारण नागरिकों में राष्ट्र के प्रति सम्मान पैदा होता है और राष्ट्रीय एकता में वृद्धि होती हैं।

3. संकटकाल के लिए उपयुक्त- एकात्मक शासन व्यवस्था में शासन की शक्ति एक ही स्थान पर केन्द्रीत होने के कारण संकट के समय यह शीघ्र निर्णय लेने में सक्षम होता है। इन निर्णयों को गुप्त भी रखना होता है और शीघ्र ही कार्यान्वित भी करना पड़ता है, इस हेतु एकात्मक शासन ही सक्षम होता है।

4. मितव्ययता- एकात्मक शासन व्यवस्था में एक ही स्थान से शासन का संचालन होने और राज्य इकाइयों में अलग से कोई मंत्रिमण्डल व व्यवस्थापिका का गठन न करने से काफी खर्च बच जाता है। इस दृष्टि से यह मितव्ययी शासन व्यवस्था है।

5. छोटे राज्यों के लिए उपयोगी- एकात्मक शासन व्यवस्था छोटे राज्यों के लिए बहुत ही उपयोगी है, क्योंकि इसमें सम्पूर्ण शासन का संचालन एक ही स्थान से किया जाता है।

6. नीति संबंधी निर्णय में एकरूपता-एकात्मक शासन प्रणाली में नीति संबंधी जो भी निर्णय लिए जाते हैं उनमें एकरूपता बनी रहती है क्योंकि ये निर्णय एक स्थान से अर्थात केन्द्र से लिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त नीति-संबंधी निर्णयों के लिए केन्द्र को राज्य सरकारों से कोई भी राय व सहमति नहीं लेनी होती है, जिस कारण नीति संबंधी निर्णयों में एकरूपता आ जाती हैं।

7. आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त- एकात्मक शासन व्यवस्था में एक ही स्थान से निर्णय लिये जाने के कारण पूरे राष्ट्र की आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्णय लिए जा सकते हैं, जिस कारण यह व्यवस्था आर्थिक विकास के लिए उपयोगी होती हैं।

8. सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति- एकात्मक शासन की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काफी सुदृढ़ रहती है, क्योंकि इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में शीघ्रता से निर्णय लिया जा सकता है, समान रूप की नीति का अनुसरण किया जा सकता है और अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को अधिक कुशलता के साथ निभाया जा सकता है।

9. संघर्ष की सम्भावना नही- एकात्मक शासन में शासन की समस्त शक्तियॉ केन्द्र के हाथों में रहती हैं तथा इकाइयॉ केन्द्र के पूर्णतः अधीन होकर कार्य करती हैं, जिस कारण केन्द्र तथा इकाइयों के बीच संघर्ष की सम्भावना नहीं रहती है। प्रशासनिक निर्णय लेने में आसानी होती है।

8.5.2 एकात्मक शासन प्रणाली के दोष

1. शासन कार्य में कुशलता की कमी- एकात्मक शासन में शासन कार्यों का सम्पूर्ण संचालन एक ही स्थान अर्थात केन्द्र से संचालित होता है, जिसे शासन कार्य की कुशलता के लिए उपर्युक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक ही स्थान से केन्द्रीय सरकार पूरे देश में कुशल शासन संचालन कर ले यह सम्भव नहीं है। अतः देश के सभी भागों के हितों व आवश्यकताओं की पूर्ति केन्द्र द्वारा नहीं हो सकती।

2. लोकतंत्र की भावना के विरूद्व- एकात्मक शासन व्यवस्था लोकतंत्र की भावना के विरूद्ध हैं क्योंकि इसमें प्रान्तीय अथवा स्थानीय स्वशासन को वो महत्ता नहीं मिलती जो लोकतंत्र में मिलती है।

3. शासन की निरंकुशता की सम्भावना- एकात्मक शासन व्यवस्था में शासन की निरंकुशता का भय बना रहता है क्योंकि शासन की समस्त शक्तियॉ केन्द्र में ही निहित होती हैं। केन्द्र अपनी शक्तियों को बढ़ा कर निरंकुश न हो जाए और शासन के सभी क्षेत्रों में अपनी मनमानी न करने लगे, इस बात की सम्भावना बनी रहती हैं।

4. विविधताओं वाले राष्ट्रों में असफल- एकात्मक शासन व्यवस्था विविधताओं वाले राष्ट्रों में असफल रहती हैं, छोटे-छोटे राज्यों के लिए यह शासन व्यवस्था सफल हो सकती है, बड़े व विविधताओं वाले राष्ट्रों में नहीं, क्योंकि एक ही स्थान से शासन चलाने पर विभिन्न जाति, धर्म, भाषाओं व नस्लों के लोगों के हितों की पूर्ति सम्भव नहीं हो सकती।

5. स्थानीय संस्थाओं के क्रिया-कलापों पर प्रतिबन्ध- एकात्मक शासन व्यवस्था में, शासन में इतनी कठोरता और अंकुश रहता है कि इससे स्थानीय संस्थाओं के क्रिया-कलापों पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं उनकी स्वायत्तता लगभग समाप्त ही हो जाती है।

6. शासन कार्यो के प्रति उदासीन जनता- एकात्मक शासन-व्यवस्था में जनता को सार्वजनिक कार्यो में भागीदारी का पूर्ण अवसर प्राप्त नहीं होता, जिस कारण जनता सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीन रहती हैं। जनता को प्रशासनिक कार्यो में भाग लेने का अवसर प्राप्त न होने के कारण उन्हें राजनीतिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता है।

7. क्रान्ति का भय- एकात्मक शासन पर अनुदार होने का आरोप लगाया जाता है, क्योंकि प्रशासनिक अधिकारियों का अपरिवर्तनशील श्रंखलाबद्ध शासन स्थापित हो जाता है। अपनी उदारता के कारण यह प्रगति विरोधी हो जाता है तथा नई योजनाओं को जल्दी क्रियान्वित नहीं करता। फलस्वरूप इस शासन व्यवस्था में क्रान्ति का भय उत्पन्न हो जाता है।

अभ्यास प्रश्न- 1

1. एकात्मक शासन प्रणाली में शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होता है। सही/गलत

2. एकात्मक शासन प्रणाली की यह परिभाषा किसने दी ''एकात्मक शासन वह शासन है जिसमें सम्पूर्ण सत्ता,

शक्ति, केन्द्र में निहित होती है और जिसकी इच्छा एवं अभिकरण पूर्ण क्षेत्र पर वैद्य रूप से मान्य होते हैं।''

क. फाइनर ख. गार्नर ग. डायसी घ. लास्की

3. इकहरी नागरिकता..... पायी जाती है।

क. एकात्मक शासन प्रणाली में ख. संघात्मक शासन प्रणाली में

ग. मिश्रित शासन प्रणाली में घ. इनमें से कोई नहीं

8.6 संघात्मक शासन प्रणाली अर्थ एवं परिभाषा

संघात्मक शासन प्रणाली में संविधान के द्वारा केन्द्र व उसकी इकाइयों के बीच शक्तियों का विभाजन किया जाता है। इस शासन में संघीय (केन्द्रीय) सरकार और राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में संविधान द्वारा दी गई शक्तियों के आधार पर शासन कार्य करती हैं। दोनों सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र होकर कार्य करती हैं। 'संघ' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के फोएड्स शब्द से हुई हैं, जिसका अर्थ है, 'समझौता' या 'संधि'। इस अर्थ के आधार पर समझौता या सन्धि द्वारा निर्मित राज्य को 'संघ' कहा जाता है। वर्तमान विश्व में संघीय राज्यों की संख्या दो दर्जन से ज्यादा नहीं है किन्तु ये राज्य-विश्व के बहुत बड़े हिस्से पर फैले हैं। विश्व के 06 बड़े राज्यों में 05 संघीय राज्य हैं, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका ,कनाडा, आस्ट्रेलिया, ब्राजील, रूस। भारत, जर्मनी, दक्षिण अफ्रीका, व स्विट्जरलैण्ड आदि अन्य प्रमुख देश हैं। ज्ञातव्य है कि संघीय व्यवस्था ऐसा बना बनाया ढॉचा नहीं है जिसे भिन्न-भिन्न देशों में ज्यों का त्यों लागू किया जा सके। भिन्न-भिन्न देशों में अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार संघीय व्यवस्था अपने-अपने ढंग से विकसित हुई है।

परिभाषाएँ

फाइनर के अनुसार ''संघात्मक राज्य वह है, जिसमें सत्ता शक्ति का एक भाग इकाइयों में निहित रहता है, दूसरा भाग केन्द्र में, जो क्षेत्रीय इकाइयों के लोगों द्वारा जान-बूझकर संगठित की जाती है।''

गार्नर के अनुसार, ''संघ एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति (संविधान) के अधीन होती हैं तथा ये सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में संविधान द्वारा दी गई शक्तियों के आधार पर ही कार्य करती हैं।''

स्ट्रांग के शब्दों में, ''एक संघात्मक राज्य कई राज्यों के मेल से बना एक प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है जिसकी अपनी सत्ता ,मेल करने वाले राज्यों से प्राप्त होती है और जिसमें वे राज्य इस प्रकार बॅधे होते हैं कि एक राजनीतिक इकाई का निर्माण होता है।''

8.7 संघात्मक शासन की विशेषताएँ

संघात्मक शासन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. लिखित एवं कठोर संविधान- संघीय शासन का संविधान लिखित एवं कठोर होता है,ऐसा इसलिए कि इकाइयों के अहित में संविधान में कोई संशोधन न हो सके।

2. संविधान की सर्वोच्चता- संघात्मक शसन में संविधान सर्वोच्च होता है। केन्द्र एवं राज्य सरकारें संविधान द्वारा प्राप्त शक्तियों के आधार पर ही कार्य करती हैं, वे संविधान के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं कर सकती हैं।

3. सम्प्रभु शक्ति का दोहरा प्रयोग- संघीय शासन में सम्प्रभुता अविभाजित होती है किन्तु एक संघीय राज्य में सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति केन्द्र सरकार व राज्य सरकार को प्राप्त शक्तियों के आधार पर होती है तथा दोनों ही अपनी शक्तियॉं संविधान से प्राप्त करती हैं।

4. कार्यों एवं शक्ति का विभाजन- संघीय शासन व्यवस्था में शासन की शक्तियों का विभाजन संविधान द्वारा केन्द्र व राज्य सरकारों के बीच किया जाता है। शक्तियों के वितरण के साथ ही दोनों सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करने को भी स्वतंत्र होती हैं।

5. स्वतंत्र एवं सर्वोच्च न्यायपालिका- संघीय शासन में सर्वोच्च न्यायालय स्वतंत्र होता है। उस पर सरकार के किसी भी अंग (व्यवस्थापिका व कार्यपालिका) का न तो कोई प्रभाव होता है न ही कोई दबाव। संविधान के संरक्षक के रूप में होने के कारण यह सर्वोच्च होता है।

6. दोहरी नागरिकता- संघीय शासन-व्यवस्था में नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है, एक तो केन्द्र की व दूसरी राज्यों (इकाइयों) की किन्तु भारतीय संघ इसका एक अपवाद है। यहॉं नागरिकों को संघ की ही नागरिकता प्राप्त हैं।

7. संबंध विच्छेद की स्वीकृति नहीं- संघीय शासन व्यवस्था में संघ एक स्थाई राज्य होता है। इसलिए किसी भी संघात्मक राज्यों में इकाइयों केा केन्द्र से अलग होने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती है।

8. द्विसदनीय विधानमण्डल- संघीय शासन में द्विसदनीय विधानमण्डल (संसद) की व्यवस्था होती है। एक सदन-जिसमें राष्ट्र का प्रतिनिधित्व होता है और दूसरा सदन-जिसमें संघ की इकाइयों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है। अमरीकी 'प्रतिनिधि सभा' व भारत की 'लोकसभा' समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती हैं, जबकि 'सीनेट' व 'राज्य सभा' इकाइयों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

8.8 संघात्मक शासन के गुण-दोष

वर्तमान में शासन व्यवस्था का सर्वाधिक प्रचलित रूप संघात्मक शासन है। इसीलिए 'सिजविक' का कथन है कि ''जब हम शासन व्यवस्था के स्वरूप के संबंध में भूत से भविष्य की ओर नजर दौड़ाते हैं तो हमें संघात्मक शासन-व्यवस्था के विकास की सबसे अधिक सम्भावना प्रतीत होती है। लास्की भी इसके समर्थन में कहते हैं कि सम्पूर्ण विश्व समाज संधात्मक शासन-व्यवस्था की ओर बढ़ रहा है।

8.8.1 संघात्मक शासन के गुण

1. विविधता वाले राष्ट्रों के लिए उपयोगी- संघात्मक शासन व्यवस्था विविधता वाले राष्ट्रों के लिए उपयोगी है। जिस राष्ट्र में धर्म, जाति, वर्ग व भाषा के आधार पर विविधता पायी जाती है, उस राष्ट्र में यह शासन व्यवस्था इन

विविधताओं की रक्षा करते हुए उपयोगी सिद्ध होती है। इस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता एवं स्थानीय शासन दोनों के ही हित सम्भव है। भारत जैसे देश में जहॉ इतनी विविधता पायी जाती है संघीय शासन पद्धति श्रेष्ठता के साथ कार्य कर रही हैं।

2. छोटे व कमजोर राज्यों के लिए उपयुक्त- संघीय शासन व्यवस्था में छोटे व कमजोर राज्य संगठित होकर शक्तिशाली राज्य बन सकते हैं क्योंकि संघीय शासन व्यवस्था में छोटे व कमजोर राज्यों की स्वतंत्रता और उनका पृथक अस्तित्व बना रहता है और उन्हें आर्थिक विकास व सुरक्षा के पूर्ण अवसर प्राप्त होते हैं।

3. सार्वजनिक जीवन के लिए महत्वपूर्ण- संघीय शासन व्यवस्था सार्वजनिक जीवन के लिए महत्वपूर्ण है। इस व्यवस्था में नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में विकास के पूर्ण अवसर प्राप्त होते हैं तथा संघ व राज्य इकाइयों को सार्वजनिक जीवन को उपयोगी बनाने हेतु सभी तरह के प्रयोग करने की स्वतंत्रता होती है।

4. बड़े राष्ट्रों के लिए उपयोगी- संघीय शासन प्रशासनिक क्षमता की दृष्टि से बड़े राष्ट्रों के लिए उपयोगी है। संघीय शासन में केन्द्र व राज्य इकाइयों के बीच शासन कार्यो की शक्तियों का बंटवारा होने के कारण यह शासन विशाल राज्यों के लिए उपयुक्त है।

5. नागरिक अधिकारों की सुरक्षा- संघीय शासन में नागरिक अधिकारों की सुरक्षा बनी रहती है क्योंकि इस शासन व्यवस्था में शासन की निरंकुशता पर नियंत्रण लगाये जाते हैं, जिससे नागरिक अधिकार सुरक्षित रहते हैं।

6. आर्थिक रूप से लाभकारी- संघात्मक शासन आर्थिक रूप से लाभकारी है। इस शासन व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्य इकाइयों को अपने-अपने आर्थिक संसाधनों को विकसित करने का अवसर मिलता है। संघात्मक शासन मितव्ययी भी है। सेना, रेल, डाक एवं तार तथा अन्य व्यवस्थाओं के एक हो जाने से व्यय में बहुत कमी आ जाती है।

7. सार्वजनिक कार्यों के प्रति उत्साह- संघात्मक शासन में नागरिकों की राजनीतिक चेतना के कारण सार्वजनिक कार्यों के प्रति उनमें उत्साह रहता है। संघात्मक शासन में नागरिकों को शासन-कार्यों में भागीदारी प्राप्त होती है, जिस कारण नागरिक समस्याओं के समाधान में अधिक रूचि लेते हैं, और उनमें आत्म-सम्मान व अभिरूचि की भावना का विकास होता है।

8. प्रजातंत्र के लिए उपयोगी- संघात्मक शासन-व्यवस्था प्रजातंत्र के लिए उपयोगी है, क्योंकि इसमें सत्ता के विकेन्द्रीकरण के कारण स्थानीय स्वशासन की भावनाओं का विकास होता है, जो प्रजातंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है। स्थानीय स्वशासन के विकास के कारण नागरिकों को राजनीतिक ज्ञान मिलता है, उनमें राजनीतिक चेतना का विकास होता है।

9. निरंकुशता की सम्भावना नहीं- संघात्मक शासन व्यवस्था में सरकार के निरंकुश होने की सम्भावना नहीं रहती। इस शासन व्यवस्था में केन्द्र व राज्य इकाइयों के बीच शासन-सत्ता का स्पष्ट विभाजन रहने के कारण केन्द्रीय सरकार निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं बन सकती है। संविधान तथा न्यायपालिका का उनकी शक्तियों पर नियंत्रण रहता है। केन्द्र तथा स्थानीय सरकारें कोई भी एक-दूसरे के कार्य-क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। स्थानीय स्वशासन के संबंध में राज्य इकाइयों को बहुत स्वतंत्रता रहती है, जिस कारण तानाशाही की सम्भावना नहीं रहती।

8.8.2 संघात्मक शासन के दोष

उपरोक्त गुणों के बावजूद संघात्मक शासन में अनेक दोष पाए जाते हैं-

1. संगठन व कार्य-पद्धति में भिन्नता- संघीय शासन प्रणाली में प्रशासनिक संगठन व कार्य-पद्धति में भिन्नता पाई जाती है क्योंकि केन्द्र एवं राज्यों को अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करने के लिए स्वतंत्रता और शक्तियॉ प्राप्त होती हैं। कई बार ऐसे विषय होते हैं जो सामान्य महत्व के होते है लेकिन राज्यों को शक्ति प्राप्त होने के कारण अलग-अलग राज्यों द्वारा उस विषय पर अलग-अलग नियम बनाए जाते हैं, जो कठिनाई पैदा करते हैं।

2. जटिल और खर्चीली शासन प्रणाली- संघीय शासन व्यवस्था में संविधान कठोर होने के कारण इसमें आसानी से संशोधन नहीं किया जा सकता, जिस कारण कई बार शासन कार्यो में परेशानी आ जाती है और शासन कार्य जटिल हो जाता है। केन्द्र व राज्यों में दोहरी शासन प्रणाली होने के कारण यह व्यवस्था बहुत ही खर्चीली हो जाती है।

3. केन्द्र व राज्य सरकारों में विवाद- इस शासन व्यवस्था में कई बार संघ व राज्य सरकारों में शासन कार्यो के विषय में विवाद उत्पन्न हो जाता है। कुछ विषय ऐसे होते है जिन पर कानून बनाने व कार्य करने की शक्ति दोनों सरकारों को प्राप्त होती है। ऐसे विषयों पर केन्द्र व राज्य सरकारों में विवाद उत्पन्न हो जाता है।

4. संकट-काल में अनुपयुक्त- संघीय शासन प्रणाली में संविधान संशोधन की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल होती है जिस कारण यह शासन-प्रणाली संकटकाल के लिए उपयोगी नहीं होती।

5. प्रशासन कार्यों में एकरूपता का अभाव- संघीय शासन में केन्द्र व राज्य सरकारों को अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करने के लिए स्वतंत्रता व शक्तियॉ प्राप्त होती हैं और वे अपने-अपने राजनीतिक हितों और सुविधाओं के अनुसार कार्य करती हैं, कभी-कभी एक राज्य की नीति दूसरे राज्य पर गलत प्रभाव डालती है। अतः प्रशासनिक कार्यो के संबंध में इनमें (केन्द्र व राज्यों में) एकरूपता नहीं पायी जाती है।

6. विद्रोह की सम्भावना- संघात्मक शासन में यह आशंका बनी रहती है कि इकाई राज्यों की सरकारें विद्रोह कर सकती हैं और विरोधी हितों की रक्षा के लिए राज्य इकाइयों में फूट और कलह हो सकता है। गृह-युद्ध की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है।

8.9 संघ के लिए अपेक्षित शर्ते

संघ निर्माण के लिए कुछ अपेक्षित शर्तों या तत्वों का होना आवश्यक है। इन शर्तों की पूर्ति होने पर ही संघ का निर्माण सम्भव है। संघ की सफलता या असफलता इन शर्तों पर ही निर्भर करती है। संघ निर्माण के लिए केन्द्र तथा इकाइयों के बीच शासन-शक्तियों का स्पष्ट विभाजन होना चाहिए। साथ ही केन्द्र और इकाइयों की सरकारें एक-दूसरे से स्वतंत्र और एक-दूसरे के समकक्ष होनी चाहिए।

संघ निर्माण तथा उसकी सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तें अनिवार्य है

1. भौगोलिक सामीप्य- संघीय राज्य का क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से सम्पर्कयुक्त होना चाहिए, यदि संघीय राज्य के भाग या इकाइयॉ जल अथवा भूमि द्वारा बड़ी दूरी से एक-दूसरे से कटे होंगे, तो संघीय-व्यवस्था को सफलतापूर्वक

नहीं चलाया जा सकेगा। भौगोलिक दृष्टि से निकटता होने पर राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से राष्ट्रीय प्रगति तेजी से हो सकती है। सैनिक दृष्टि से भी भौगोलिक समीपता का विशेष महत्व है। भारत व अमेरिका के संघीय शासन की सफलता का एक बड़ा कारण यह भी है कि भौगोलिक दृष्टि से इकाइयॉ एक दूसरे के निकट हैं। स्विट्जरलैण्ड व आस्ट्रेलिया के संघों में भी यह गुण मौजूद है।

2. संघ की इकाइयों में समानता- संघीय राज्य के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि संघ की इकाइयों को शक्तियों के स्तर में समानता प्राप्त होनी चाहिए, चाहे उनका प्रादेशिक और जनसंख्या संबंधी आकार कुछ भी हो ।सभी इकाइयों को शक्तियों का वितरण समानता के आधार पर प्राप्त होना चाहिए। शक्तियों के असमान वितरण से इकाइयों में असंतोष पनप सकता है और यह संघ निर्माण के लिए उचित नहीं हो सकता। इस संबंध में मिल का कथन है कि ''संघ का सार यह है कि, कोई एक इकाई राज्य अन्य की अपेक्षा इतना अधिक शक्तिशाली और सम्पन्न न हो कि वह उन्हें दबाए और केन्द्रीय शासन को भी प्रभावित करने का प्रयास करे।

3. राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं में समानता- संघ के निर्माण की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि केन्द्र तथा राज्य स्तरों पर प्रशासनिक व्यवस्थाओं की शैली समान हो, भारत तथा आस्ट्रेलिया में केन्द्र तथा राज्यों के स्तर पर शासन का संघीय रूप है। यदि सामाजिक व राजनीतिक दृष्टि से संस्थाओं में समानता नहीं होगी तो संघ का संगठित रहना कठिन हो जायेगा।

4. सामाजिक एवं आर्थिक विकास- संघीय शासन व्यवस्था सफलता पूर्वक कार्य करे इसके लिये यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण संघ का आर्थिक एवं सामाजिक विकास हो। यदि संघ का कोई भी क्षेत्र आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़ा एवं अविकसित होगा तो यह संघीय व्यवस्था के लिए क्षेत्रीय असन्तुलन पैदा कर देगा और यह स्थिति संघ की सफलता के लिए उचित नहीं है।

5. राजनीतिक योग्यता आवश्यक- संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक नेतृत्व कुशल होना चाहिए और जन-जागरूकता होनी चाहिए। असफल नेतृत्व संघीय व्यवस्था को कमजोर कर सकता है।

6. केन्द्र-राज्य समन्वय- संघ निर्माण की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्र तथा राज्य इकाइयों के बीच सुखद समन्वय होना चाहिए तथा संघ का चरित्र प्रतियोगी नहीं सहयोगी होना चाहिए ,उसे अपनी नीतियों के प्रति कठोर नहीं नरम होना चाहिए। संघ की क्रिया दमनकारी नहीं बल्कि सहयोग पूर्ण होनी चाहिए।

7. धर्म, संस्कृति, भाषा आदि में समानता- संघ की सफलता में समान संस्कृति, भाषा, धर्म का बड़ा योगदान होता है क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से नजदीक राज्य अपनी संस्कृति, भाषा, धर्म की एकता व सुरक्षा के लिए एकत्र होकर संघ बना लेते हैं और यही एकता व समानता संघ की सफलता है।

8. संसाधनों की उपलब्धता- संघीय व्यवस्था में प्रत्येक इकाई की सरकार को मिलने वाले संसाधन एवं विषय पर्याप्त होने चाहिए। जिन राज्य इकाइयों में इन संसाधनों की कमी होती है उन्हें केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है जिससे संघ की व्यवस्था डगमगा जाती है। अतः संघीय व्यवस्था में संसाधनों की पर्याप्त उपलब्धता होनी चाहिए।

9. राजनीतिक एवं राष्ट्रीय एकता- संघ की सफलता या निर्माण के लिए संघीय राज्य के नागरिकों को राष्ट्रीय रूप में व राजनीतिक दृष्टि से एकताबद्ध होना चाहिए तथा राष्ट्र का राजनीतिक स्वरूप इस तरीके से तैयार होना चाहिए कि पूर्ण राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता और राज्य इकाइयों से संबंधित लोंगों की इच्छाओं और आकांक्षाओं के

बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सके। अतः जब तक लोगों में अपनी राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों के प्रति अपनी निष्ठाएँ व वचनबद्धताएँ नहीं होगीं, तब तक कोई राजनीतिक व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती। संघीय राज्य के लिए यह अति आवश्यक है ताकि लोग दोहरे शासनों के प्रति अपनी निष्ठा को कायम रख सकें।

10. राजनीतिक जागृति- संघ के निर्माण एवं सफलता के लिए उसके नागरिकों में सक्षम राजनीतिक चेतना होनी चाहिए। संघ के नागरिकों को, संघ और इकाई राज्यों के प्रति अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान आवश्यक है। संघ की सफलता उसके नागरिकों की राजनीतिक जागृति पर बहुत निर्भर करती है।

8.10 एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली में अंतर

एकात्मक और संघात्मक शासन प्रणालियों में निम्नलिखित आधारों पर अन्तर पाया जाता है-

1. कार्यों और शक्तियों के विभाजन के आधार पर- एकात्मक शासन प्रणाली में शक्ति का स्रोत केन्द्र ही होता है। स्थानीय सरकारों को जो भी शक्ति प्राप्त होती हैं वह केन्द्र के द्वारा ही होती है और शासन कार्यों में किसी भी प्रकार का विभाजन नहीं होता। किन्तु संघात्मक शासन में शासन शक्तियॉ केन्द्र में निहित न होकर क्षेत्रीय सरकारों में भी वितरित होती है ओर इन शक्तियों का स्रोत संविधान होता है।

2. सरकारों की स्थिति के आधार पर अन्तर- एकात्मक शासन व्यवस्था मे केन्द्र सरकार के पास शासन की समस्त शक्तियॉ होती हैं तथा स्थानीय सरकारें केन्द्र के अधीन रह कर कार्य करती हैं। अतः इस शासन व्यवस्था में स्थानीय सरकारों का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इसके विपरीत संघात्मक शासन में केन्द्र के साथ-साथ स्थानीय सरकारों को भी शासन शक्तियॉ प्राप्त होती हैं तथा वे केन्द्र से स्वतंत्र होकर संविधान की सीमाओं में रहकर कार्य करती हैं।

3. नागरिकता के आधार पर अन्तर- एकात्मक शासन वाले राज्यों में नागरिकों की एक ही नागरिकता होती हैं अर्थात राष्ट्रीय नागरिकता होती है, जबकि संघात्मक राज्यों में नागरिकों को राष्ट्रीय नागरिकता के साथ-साथ इकाइयों की नागरिकता भी प्राप्त होती है अर्थात संघात्मक राज्यों में दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है।

4. संविधान की स्थिति के आधार पर अन्तर- एकात्मक शासन वाले राज्यों मे संविधान लिखित और अलिखित दोनों प्रकारों का हो सकता है, जबकि संघात्मक शासन वाले राज्यों में शासन की शक्ति केन्द्र व राज्य सरकारों में विभाजित होती है ओर उस विभाजन को स्पष्ट करने की दृष्टि से संविधान का लिखित होना अनिवार्य है।

5. न्यायपालिका के कार्य संबंधी अंतर- संघात्मक शासन में न्यायपालिका को केन्द्र व इकाइयों, इकाई व इकाई के पारस्परिक अधिकारों संबंधी विवादों का निर्णय करना होता है, जबकि एकात्मक शासन में न्यायपालिका का कार्य मात्र यह देखना होता है कि व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून कितनी ईमानदारी से लागू हो रहे हैं।

अभ्यास प्रश्न- 2

1. संघात्मक शासन प्रणाली में संविधान के द्वारा केन्द्र व उसकी इकाइयों के बीच शक्तियों का विभाजन किया जाता है। सही/गलत

2. 'संघ' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के ''फोएड्स'' शब्द से हुई हैं। सही/गलत

3. संघात्मक शासन प्रणाली की यह परिभाषा किसने दी कि ''संघ एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति (संविधान) के अधीन होती हैं तथा ये सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में संविधान द्वारा दी गई शक्तियों के आधार पर ही कार्य करती हैं।''

क. लास्की ख. फाइनर ग. गार्नर घ. ब्राइस

4. किस शासन प्रणाली में दोहरी नागरिकता पायी जाती है?

क. एकात्मक शासन प्रणाली में ख. संघात्मक शासन प्रणाली में

ग. मिश्रित शासन प्रणाली में घ. इनमें से कोई नहीं

8.11 सारांश

मानव सभ्यता के विकास क्रम में किसी न किसी रुप में शासन का संचालन होता आया है। शासन संचालन के ये रुप समय व आवश्यकता के अनुसार बदलते रहे हैं। वर्तमान समय में शासन के दो रुपों एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली की विशेष चर्चा है। एकात्मक शासन प्रणाली शासन के सभी अधिकार केन्द्र के हाथों में रहते है और वहीं से शासन का संचालन होता है। तथा केन्द्रीय सरकार अपनी इच्छा अनुसार शक्तियों का वितरण करती है। प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली में एकात्मक शासन प्रणाली अधिक प्रभावी नहीं है। लेकिन संघीय शासन प्रणाली में केन्द्र व स्थानीय सरकारों में शक्ति का विभाजन होता है। विश्व के बड़े राज्यों जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका ,कनाडा, आस्ट्रेलिया, ब्राजील, रूस ने संघात्मक शासन प्रणाली को अपनाया है।

8.12 शब्दावली

केन्द्रीकरण- एक स्थान पर एकत्र होना

अपरिवर्तनशील- जो परिवर्तित (बदल) ना हो सके

प्रभुत्व शक्ति- सर्वोच्च शक्ति, प्रभावी शक्ति

सामीप्य- सुलभता, संगमता

समन्वय- सहयोग, सामंजस्य

38.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न- 1

1. गलत 2. क. 3. क.

अभ्यास प्रश्न- 2

1. सही 2. सही 3. ग. 4. ख.

8.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. इंटर-गवर्मेन्ट रिलेशन इन इंडिया ए स्टडी ऑफ फैडरलिज्म- अमल राय

2. फैडरल गवर्मेन्ट- के0 सी0 व्हीयर

3. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं- सी0बी गैना

8.15 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं- सी0बी गैना

2. आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त- डॉ0 पुष्पेश पाण्डे, डॉ विजय पंत एवं घनश्याम जोशी

8.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. एकात्मक शासन प्रणाली के अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट करते हुए इसके गुण-दोष बतलाइये।

2. संघात्मक शासन प्रणाली से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए इसके गुण-दोष बतलाइये।

3. एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली को स्पष्ट करते हुए एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली में अंतर को स्पष्ट करें।

इकाई- 9 संसदात्मक एवमं अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली

इकाई की संरचना

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 संसदात्मक शासन प्रणाली- अर्थ एवं परिभाषा

9.3.1 संसदात्मक शासन प्रणाली की विशेषताएं

9.3.2 संसदीय शासन प्रणाली के गुण

9.3.3 संसदीय शासन प्रणालीके दोष

9.4 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली- अर्थ एवं परिभाषा

9.4.1 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की विशेषताएं

9.4.2 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के गुण

9.4.3 अध्यक्षात्मक शासन प्रणालीके दोष

9.5 संसदात्मक व अध्यक्षात्मक सरकारों में अंतर

9.6 सारांश

9.7 शब्दावली

9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

9.10 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

9.11 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

सभी मानवीय समुदायों ने सामाजिक संबंधो के संयोजन, संघर्षो की रोकथाम और समाधान तथा समाज के समान उददेश्यों को प्राप्त करने के लिए, कोई न कोई नियंत्रण व्यवस्था अपना रखी है। सत्ता और नियंत्रण की इस व्यवस्था को सरकार (शासन) कहा जाता है। मूलतः सरकार (शासन) के तीन कार्य होते हैं। पहला- कानून बनाना, दुसरा- कानून लागू करना और तीसरा-विवादों को सुलझाना। इन कार्यो को पूरा करने वाले सरकार के तीन अंग होते है- विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका। विधानमण्डल व कार्यपालिका के पारस्परिक संबंधों के आधार पर सरकारों का वर्गीकरण करते हुए दो प्रकार की सरकारें होती हैं- 1- संसदीय सरकार और 2- अध्यक्षीय सरकार।

जिस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका का जन्म व्यवस्थापिका में से होता है और कार्यपालिका, विधानमण्डल के नियंत्रण में कार्य करती है एवं पूर्णरूप से उसके प्रति ही उत्तरदायी होती है तो ऐसी सरकार (शासन व्यवस्था) को संसदीय सरकार या मंत्रीमण्डलीय शासन या उत्तरदायी शासन कहते हैं। इसके विपरीत यदि विधानमण्डल और कार्यपालिका एक दूसरे से पृथक व स्वतंत्र होकर कार्य करते हैं, दोनों समकक्ष दर्जे के होते हैं, दूसरे शब्दों में ये दोनों शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के आधार पर काम करते है, तो ऐसी सरकार को अध्यक्षात्मक सरकार कहते है।

बेजहॉट ने संसदीय व अध्यक्षीय सरकारों का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है- ''व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शक्तियों की एक दूसरे से स्वतंत्रता, अध्यक्षीय शासन का विशेष लक्षण है और इन दोनों का एक दूसरे से संयोग तथा घनिष्ठता संसदीय शासन का लक्षण है।''

ब्रिटेन संसदीय शासन का सर्वोत्तम व आदर्श उदाहरण है, वह इस शासन व्यवस्था की जननी भी है। भारत में भी ब्रिटिश संसदीय पद्धति क® ग्रहण किया गया है। अमेरिका अध्यक्षीय शासन का सर्वोत्तम व आदर्श उदाहरण है और इसका जनक भी है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई को पठने के उपरान्त आप-

1. संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के अर्थ एवं परिभाषा को जान पायेंगे।
2. संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के विशेषताओं के विषय में जान पायेंगे।
3. संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के गुण एवं दोषों के विषय में विस्तार से जान पायेंगे।
4. संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के अंतर को समझ पायेंगे।

9.3 संसदात्मक शासन प्रणाली -अर्थ एवं परिभाषा

संसदात्मक/संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका शक्तियॉ मंत्रीपरिषदके हाथों मे रहती है और यह कार्यपालिका (मंत्रीपरिषदया मंत्रीमण्डल), व्यवस्थापिका या उसके निचले सदन के प्रति उत्तरदायी होती है, राज्याध्यक्ष नाममात्र का शासक या प्रधान होता है।

प्रो0 गार्नर ने संसदात्मक या मंत्रीमंडलीय सरकार को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''संसदीय सरकार वह प्रणाली है, जिसमें वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रीपरिषद्) अपने विधायी और प्रशासनिक कार्यों के लिए प्रत्यक्ष और कानूनी तौर पर, विधानमण्डल अथवा उसके एक सदन (प्रायः लोकप्रिय सदन) के प्रति और राजनीतिक तौर पर निर्वाचक गणों के प्रति उत्तरदायी होती है, जबकि नाममात्र की कार्यपालिका (राज्य का प्रधान) अनुत्तरदायी स्थिति में होता है।''

गैटिल का, संसदात्मक शासन से अभिप्राय, शासन के उस प्रकार से है जिसमें कि प्रधानमंत्री और मंत्रीमण्डल से मिलकर बनने वाली वास्तविक कार्यपालिका अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति वैधानिक रूप से उत्तरदायी होती है।

यहॉ पर मंत्रीमण्डल और मंत्रीपरिषद शब्दों का प्रयोग हुआ है। दरअसल कार्यपालिका जो वास्तविक शासक या प्रधान और उसके मंत्रियों से मिलकर बनती है में दो स्तर के मंत्री होते हैं। पहला- केन्द्रीय मंत्री और दुसरा- राज्य मंत्री। राज्य स्तर के मंत्री भी दो प्रकार के होते हैं- स्वतंत्र प्रभार के मंत्री और राज्यमंत्री। स्वतंत्र प्रभार के मंत्री उन मंत्रियों को कहा जाता है, जिस विभाग में केन्द्र स्तर का मंत्री न हो और वह अपने विभाग के निणर्य स्वयं ले सकते है। जबकि राज्यमंत्री केन्द्रीय मंत्री के सलाह से ही कार्य करते है और निर्णय लेते है। मंत्रीमण्डल में वास्तविक शासक या प्रधान और केन्द्रीय मंत्री होते हैं, जबकि मंत्रीपरिषद में वास्तविक शासक या प्रधान और केन्द्र व राज्य स्तरीय सभी मंत्री होते हैं।

9.3.1 संसदात्मक शासन प्रणाली की विशेषताएं

संसदीय शासन प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं।

1. वास्तविक और नाममात्र की कार्यपालिका का भेद- संसदीय प्रणाली में दो प्रकार की कार्यपालिकाएं होती हैं- पहला नाममात्र की कार्यपालिका, और दुसरा वास्तविक कार्यपालिका। राज्य का प्रधान, नाममात्र की कार्यपालिका और प्रधानमंत्री सहित मंत्रीपरिषदवास्तविक कार्यपालिका होती है। ब्रिटेन में वर्तमान समय में रानी और भारत में राष्ट्रपति नाममात्र के प्रधान ही हैं। ये मंत्रीपरिषदके निर्णयों के अनुसार ही अपने कार्य करते है। शासन के अच्छे या बुरे कार्यों का श्रेय मंत्रीपरिषदको ही मिलता है।

2. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में अभिन्न संबंध- संसदीय शासन में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में अभिन्न संबंध होता है। कार्यपालिका का व्यवस्थापिका में से चयन होता है। मंत्रीगण व्यवस्थापिका के सदस्य होते है, वे व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं, व्यवस्थापिका वाद-विवाद, प्रश्न पूछकर काम रोको प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव आदि द्वारा मंत्रिपरिषदको नियंत्रित करती है और हटा भी सकती है। दूसरी ओर कार्यपालिका के सदस्य अर्थात मंत्री व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों में भाग लेते हैं। व्यवस्थापिका

का नेतृत्व करते हैं, अधिकांश कानून उन्हीं की इच्छानुसार बनते हैं। आवश्यकतानुसार मंत्रीपरिषद निचले अर्थात लोकप्रिय सदन को भंग भी करा सकती है।

3. राज्य के अध्यक्ष द्वारा सरकार के अध्यक्ष की नियुक्ति- राज्य के अध्यक्ष द्वारा सरकार के अध्यक्ष (प्रधानमंत्री) की नियुक्ति की जाती है। यह नियुक्ति लोकसदन में बहुमत प्राप्त दल के नेता की होती है, लेकिन जब किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो तो ऐसी स्थिति में सबसे बड़े दल के नेता को, एक से अधिक दलों में गठित दल के नेता को अथवा सर्वाधिक संख्या का समर्थन प्राप्त करने वाले नेता को प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त किया जाता है। पिछले अनेक वर्षों से यह परम्परा सी बन गई है।

4. कार्यपालिका की अवधि की अनिश्चितता- जैसा कि स्पष्ट है, इस शासन में मंत्रीपरिषदका कार्यकाल निश्चित नहीं होता है, मंत्रीपरिषदउसी समय तक रह सकती है जब तक कि उसे निचले सदन में बहुमत का समर्थन प्राप्त है।

5. सामूहिक उत्तरदायित्व- इसका अर्थ यह है कि किसी एक मंत्री के कार्य के लिए अकेला वही उत्तरदायी नहीं, वरन् समस्त मंत्रीपरिषद उत्तरदायी होती है। कारण यह है कि मंत्रिपरिषद में निर्णय सामूहिक रूप से ही होते है। इस प्रकार सामूहिक उत्तरदायित्व के कारण एक अच्छे शिक्षा मंत्री को बड़े व असफल रहे अन्य मंत्री के कारण त्यागपत्र देना पड़ सकता है। संक्षेप में मंत्रीगण एक साथ तैरते हैं, एक साथ डूबते हैं, वे सब एक के लिए है, और एक सब के लिए।

6 राजनीतिक सजातीयता- इसका अर्थ यह है कि सभी मंत्री एक ही राजनीतिक विचार और सिद्धान्त के हों , इसके लिए आवश्यक है कि साधारणतः वे एक ही राजनीतिक दल के हों, यद्यपि असाधारण स्थिति में मिली-जुली मंत्रीपरिषदभी बनती है। गंभीर संकट के समय अन्य दल के लोगों को लेकर राष्ट्रीय सरकार बनायी जा सकती है। जब संसद में कोई दल स्पष्ट बहुमत में न हो तो दो या दो से अधिक दल मिलकर मिली जुली सरकार का गठन कर सकते हैं। मंत्रीपरिषदकी सजातीयता, उसकी एकता व सामूहिक उत्तरदायित्व की दृष्टि से आवश्यक है।

7. मंत्रीमण्डल की एकता- मंत्रीमण्डल एक इकाई है, इसलिए मंत्रीमण्डल में जो निर्णय बहुमत से हो जाते है, उन्हें प्रत्येक मंत्री को स्वीकार करना पड़ता है या उन्हें मंत्री पद से त्यागपत्र देना पड़ता है। इस प्रकार मंत्रीमण्डल में रहते हुए कोई मंत्री किसी मतभेद को संसद में या सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं कर सकता है। सभी मंत्री एक ही स्वर में बोलते हैं।

8. प्रधानमंत्री का नेतृत्व- संसदीय सरकार में प्रधानमंत्री का विशिष्ट स्थान होता है। वह मंत्रीपरिषदका नेता होता है, उसका कप्तान होता है, मंत्रीमण्डल का आधार स्तम्भ होता है, लोकसदन का नेता होता है, राष्ट्रीय प्रशासन का संचालक होता है। मंत्रियों की नियुक्ति व निष्कासन करता है, विभागों में परिवर्तन करता है। प्रधानमंत्री मंत्रीपरिषदका न केवल निर्माण करता है, वरन् वह उसके जीवन तथा मृत्यु का केन्द्र-बिन्दु भी है। प्रधानमंत्री किसी मंत्री से असंतुष्ट होने पर उससे त्यागपत्र मॉग सकता है। लार्ड मॉर्ले ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को ''मंत्रीमण्डल रूपी भवन की आधारशिला कहा है''।

9. गोपनीयता- मंत्रीमण्डल की कार्यवाही गुप्त रहती है। सभी मंत्री गोपनीयता की शपथ ग्रहण करते हैं। मंत्रिगण मंत्रिमंडल के निर्णयों को या मतभेदों को संसद में या सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं कर सकते। मंत्री उचित समय पर ही कैबिनेट के निर्णयों को जनता तक पहुँचाते हैं।

9.3.2 संसदीय शासन प्रणाली के गुण

संसदात्मक शासन प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं।

1. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच संघर्ष नहीं - संसदीय शासन प्रणाली का एक गुण यह है कि व्यवस्थापिका (संसद) और कार्यपालिका में मतैक्य रहता है संघर्ष नहीं। दोनों अंग एक दूसरे की आवश्यकता और उपादेयता को समझते हैं, मंत्री व्यवस्थापिका में बैठते हैं, इच्छानुसार विधेयक व बजट आदि पारित कराते हैं, और संसद के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन करते हैं। ब्रिटेन में संसद व कैबिनेट के बीच संघर्ष देखने को नहीं मिलता है, जबकि अमेरिका में, जहॉ कि अध्यक्षीय शासन है, कॉग्रेस (व्यवस्थापिका) ओर राष्ट्रपति में संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है।

प्रो0 डायसी ने लिखा है कि ''मंत्रीमण्डलात्मक सरकार की स्थापना कार्यपालिका और विधायिका शक्तियों के संयोजन पर आधारित है, साथ ही वह इन दोनों के बीच समरूप संबंधों को बनाये रखती हैं।''

2. शीघ्र निर्णय- शक्तियॉ मंत्रिमंडल में निहित होती हैं, जिसका संसद में बहुमत होता है। अतः वह शीघ्र निर्णय लेने में सक्षम हैं, दल का बहुमत होने के कारण वह आवश्यक कानून बनवा सकती है।

3. कार्यपालिका निरंकुश नहीं हो सकती- संसदीय सरकार का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें कार्यपालिका निरंकुश नहीं हो सकती है। दूसरे शब्दों में यह सरकार उत्तरदायी सरकार है, जिसमें संसद मंत्रीपरिषदसे प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछकर, काम रोको प्रस्ताव व अविश्वास प्रस्ताव द्वारा उसे नियंत्रित करती है। किसी मंत्री के कार्यो के लिए वह जॉच समिति भी नियुक्त कर सकती है। निःसंदेह यह शासन प्रजातंत्र शासन के अधिक निकट है।

4. उत्तरदायित्व का निर्धारण सरलता से- संसदीय शासन में उत्तरदायित्व का निर्धारण भी सरलता से हो जाता है, क्योंकि विधि निर्माण व प्रशासन का कार्य एक ही दल के हाथों में रहता है।

5. उच्चकोटि का शासक वर्ग- संसदीय सरकार की बागडोर प्रतिष्ठित व योग्य व्यक्तियों के हाथों में रहती है। लास्की ने ब्रिटेन के संदर्भ में लिखा है कि ''मंत्री लोग माने हुए संसदीय नेता होते हैं, मंत्री बनने से पूर्व वे संसद सदस्यों के रूप में राजनीतिक जीवन का अच्छा अनुभव कर चुके होते हैं।'' मंत्रियों को अपनी योग्यता दिखाने का भी अवसर मिलता है और वे स्वंय भी लोकप्रिय होने के लिए जनहित में कार्य करते हैं। अध्यक्षीय शासन में मंत्री, राष्ट्रपति के केवल सहालकार मात्र होते हैं।

6. लचीली व्यवस्था- प्रो0डायसी के अनुसार लचीलापन, संसदीय शासन का महत्वपूर्ण गुण है। यह शासन नयी परिस्थितियों व संकटकाल का सामना आसानी व कुशलता से कर सकता है। बेजहॉट के शब्दों में '' इस प्रणाली के अन्तर्गत लोग, अवसर के योग्य ऐसा शासक निर्वाचित कर सकते हैं जो राष्ट्रीय संकट में से राज्य के जहाज को सफलतापूर्वक ले जाने में विशिष्ट रूप में दक्ष हो।'' यह उल्लेखनीय है कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटेन में चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल को प्रधानमंत्री बनाया गया था, ऐसा परिवर्तन अध्यक्षीय शासन में सम्भव नहीं है। इसमें गम्भीर संकट के समय राष्ट्रीय सरकार बनाने की व्यवस्था होती है।

7. राजनीतिक चेतना और शिक्षा- इस शासन से जनता में राजनीतिक चेतना पैदा होती है, लोगों को राजनीतिक प्रशिक्षण भी मिलता है, न केवल चुनावों के अवसर पर, वरन् राजनीतिक दल समय-समय पर विभिन्न

विचारधाराओं व समस्याओं को जनता के समक्ष रखते हैं और अपना मत प्रकट करते हैं, जो समाचार पत्रों, सभा-सम्मेलनों, दलीय प्रत्रिकाओं आदि के माध्यम से जनता तक पहुँचते हैं और उन्हें जागरूक रखते हैं।

8. राज्याध्यक्ष, दलबन्दी से दूर- संसदीय प्रणाली में राज्य के प्रधान का पद बहुत हितकारक होता है, क्योंकि वह राजनीतिक दलबन्दी से परे रहता है। वह राष्ट्र की एकता का प्रतीक रहता है, वह सरकार के आलोचनात्मक मित्र के रूप में कार्य करता हैं।

9. वैकल्पिक शासन की व्यवस्था- संसदीय शासन का एक गुण यह भी है कि यदि किसी कारणवश सत्तारूढ़ दल अपना त्यागपत्र दे दे तो तुरन्त ही विरोधी दल को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करके वैकल्पिक सरकार बन सकती है। शासन के कार्यों में रूकावट पैदा नहीं होती है। सरकार का परिवर्तन बहुत ही स्वाभाविक ढंग से हो जाता है। सन् 1979 में देसाई सरकार का पतन व विरोधी दल के नेता चरणसिंह को सरकार बनाने हेतु आमंत्रित किया गया।

10. जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व - डायसी के शब्दों में ''संसदीय प्रणाली के मंत्रीमण्डल को जनमत के प्रति बहुत सचेत रहना पड़ता है।'' मंत्रीमण्डल जनता की इच्छा व उसकी आलोचनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता है या शासन व्यवस्था जनता के प्रति उत्तरदायी होती है।

9.3.3 संसदीय शासन प्रणालीके दोष

संसदीय शासन प्रणाली के दोष निम्नलिखित हैं।

1. अस्थिर शासन- संसदीय शासन का पहला दोष यह है कि यह अस्थिर शासन है, क्योंकि मंत्रीपरिषदका कार्यकाल निश्चित नहीं होता है। बार-बार मंत्रीपरिषदके बदलने से प्रशासनिक नीतियों में भी स्थिरता नहीं रहती और इस प्रकार जनता के हितों को हानि पहुँचती है। यदि किसी देश में बहुदलीय प्रणाली है तो वहॉ के लिए तो यह स्थिति और भी भयंकर हो जाती है। फ्रॉस के तीसरे और चौथे गणतंत्र इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। ब्रिटेन में सरकार की स्थिरता के पीछे वहॉ की द्विदलीय प्रणाली है।

2. दुर्बल कार्यपालिका- अध्यक्षीय शासन की अपेक्षा संसदीय शासन में कार्यपालिका दुर्बल रहती है, क्योंकि पदच्युत् होने के डर से वह संसद को प्रसन्न करने में लगी रहती है। मंत्रीपरिषदनयी नीतियों का प्रयोग साहसपूर्वक नहीं कर पाती है।

3. विधानमण्डल में समय और शक्ति का दुरूपयोग- संसदीय शासन में विभिन्न राजनीतिक दलों का पारस्परिक विरोध उग्र रूप धारण कर लेता है। विरोधी दल की आलोचना भी सदैव रचनात्मक नहीं होती हैं। सत्तारूढ़ दल और विरोधी दलों में आरोपों और प्रत्यारोपों का दौर चलता ही रहता है। इसके कई बडें परिणाम निकलते हैं। जैसे विधानमण्डल में समय नष्ट होता है, कानून बनाने में विलम्ब होता है ओर जनता में उदासीनता आती है।

4. उग्र राजनीतिक दलबन्दी- संसदीय शासन राजनीतिक दलबन्दी को प्रोत्साहन देता है। लार्ड ब्राइस के शब्दों में ''यह प्रथा दलबन्दी की भावना में वृद्धि करती है और इसे सदैव उबलती रखती है। यदि राष्ट्र के सामने महत्वपूर्ण नीति संबंधी विषय न हो तो भी इसमें पद प्राप्त करने की लड़ाई बनी रहती है। एक दल के पास पद होता

है, दूसरा इसे लेने की इच्छा रखता है और यह झगड़ा चलता रहता है क्योंकि पराजित होने के शीघ्र बाद ही हारा हुआ दल जीते हुए दल को हटाने के लिए अभियान आरम्भ कर देता है।''

5. बहुमत दल की निरंकुशता का भय- संसदीय शासन में बहुमत दल संसद और देश में निरंकुशता का व्यवहार करता है। ब्रिटेन और भारत में प्रायः कैबिनेट के अधिनायकतंत्र की बात कही जाती है। प्रो0लास्की ने ब्रिटिश कैबिनेट के संदर्भ में कहा है कि ''यह निश्चय ही कार्यपालिका को अत्याचारी बनने का अवसर देती है। यदि कार्यपालिका चाहे तो छोटे से छोटे विषय को विश्वास का प्रश्न बनाकर संसद को अपनी बात को मानने वाले केवल एक अंग मात्रा बनने के लिए बाध्य कर सकती है।'' रैम्जैम्योर तो संसदीय शासन को कैबिनेट की नहीं केवल एक व्यक्ति-प्रधानमंत्री की तानाशाही मानता हैं।

6. शक्ति पृथक्करण, सिद्धान्त की उपेक्षा- क्योंकि संसदीय शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में समन्वय रहता है। अतः शक्ति पृथक्करण के अभाव में न केवल व्यवस्थापिका की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है वरन् नागरिकों की स्वतंत्रता के अपहरण का डर भी बना रहता है।

7. संकट के समय दुर्बल शासन- डायसी जैसे विचारकों का मत है कि युद्ध या राष्ट्रीय संकट के समय संसदीय शासन अनुपयुक्त रहता है। कारण यह है कि निर्णय लेने से पूर्व मंत्रीमण्डल में पर्याप्त वाद-विवाद करना पड़ता है। मतभेद होने की स्थिति में प्रधानमंत्री को निर्णय लेने में कठिनाइओं का सामना करना पड़ता है। अधिकांश समय विचार-विमर्श व वाद-विवाद में नष्ट हो जाता है। मंत्रीपरिषदका अधिकांश समय संसद में अपनी नीतियों को स्पष्ट करने, संसद सदस्यों के प्रश्नों के उत्तर देने तथा वाद-विवाद में व्यतीत हो जाता है। प्रो0गिलक्राइस्ट के शब्दों में ''शान्ति के समय में वाद-विवाद करना संसदीय शासन का गुण है, परन्तु युद्धकाल में यह इसके सबसे बड़े दोषों में से एक है।''

8**. नौकरशाही का शासन पर अनुचित प्रभाव**- संसदीय शासन में मंत्री पद उनको दिया जाता है जो दल में अपना प्रभाव रखते हैं, जिन्हें राजनीतिक हथकंडे आते हैं। योग्यता के आधार पर तो कम लोगों को ही मंत्री पद मिलता है। फिर मंत्रियों का अधिकांश समय संसदीय वाद-विवादों में, दल की बैठकों में, उद्घाटन समारोह आदि में व्यतीत होता है। फलस्वरूप मंत्री नौसिखिए बने रहते हैं और विशेषज्ञों अर्थात सिविल सेवकों के हाथों में वे कठपुतली बने रहते हैं। रैम्जेम्यूर ने ब्रिटेन के संदर्भ में लिखा है कि ''मंत्री उत्तरदायित्व की आड़ में नौकरशाही पनपती है।''

9. निजी कार्यक्षेत्र में विमुखता- सिजविक के अनुसार संसदीय प्रणाली का एक दोष यह है कि कई बार कार्यपालिका अपने प्रशासनिक कार्यों से विमुख होकर विधायनी कार्यों में जुट जाती है, इसी प्रकार संसद कानून बनाने से विमुख होकर शासन कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप करने लगती है।

10. देश-हित का उल्लंघन- आलोचकों का यह भी कहना है कि संसदीय शासन सत्तारूढ़ दल के द्वारा अपने दलीय स्वार्थ में ही होता है। इस शासन में राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा का भय सदैव बना रहता है। अपने दल के हितों को ध्यान में रखकर ही मामलों का निपटारा होता है। फलस्वरूप प्रजातंत्र का ह्रास होता है।

11. बहुदलीय प्रणाली में सरकार बनाने में कठिनाई- संसदीय शासन उन देशों के लिए उपयुक्त नहीं है जहॉ कि बहुदलीय प्रणाली है। कारण यह है कि एक दल को जब स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता तो मिली-जुली सरकार बनती है जो कि असफल सिद्ध होती है। फ्रॉस ने बहुदलीय प्रणाली के कारण संसदीय प्रणाली को छोड़ दिया

क्योंकि इसके कारण यहॉ सरकार में अस्थिरता बनी रहती थी। पिछले कुछ वर्षो से भारत में केन्द्र में यह स्थिति बनी हुई है।

9.4 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली- अर्थ एवं परिभाषा

जहां संसदीय सरकार सत्ता के संयोजन के सिद्धान्त पर आधारित होती है, वहीं अध्यक्षयात्मक/अध्यक्षीय शासन प्रणाली शक्ति विभाजन सिद्धान्त पर आधारित है। अध्यक्षीय शासन प्रणाली का आधार शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त है। इसमें व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सभी एक दूसरे से पृथक व स्वतन्त्र रहकर अपने कार्य करते हैं। कार्यपालिका शक्तियॉ राष्ट्रपति में ही निहित होती हैं जिनका प्रयोग वह स्वतन्त्रतापूर्वक करता है। राष्ट्रपति या उसके मंत्री व्यवस्थापिका के न तो सदस्य होते हैं और न उसकी कार्यवाहियों में भाग लेते हैं। राष्ट्रपति का कार्यकाल भी निश्चित होता है। व्यवस्थापिका उसे अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नहीं हटा सकती हैं। इसी प्रकार व्यवस्थापिका भी अपने गठन, कार्य तथा कार्यकाल की दृष्टि से कार्यपालिका से पृथक व स्वतंत्र होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका का अनुकरण करते हुए कई क्षेत्रों में, खासकर, लेटिन अमेरिकी देशों ने अपनी परिस्थितियों के अनुरूप इस शासन प्रणाली को अपनाया है। इनमें ब्राजील, अर्जनटाईना, चिली मैक्सिको तथा एशियाई देश, फिलीपिन्स, दक्षिण कोरिया आदि प्रमुख हैं।

प्रो0गार्नर ने अध्यक्षीय सरकार की परिभाषा इस प्रकार की है- ''यह वह प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका (मंत्रियों सहित राज्य का प्रधान) संवैधानिक रूप से अपने कार्यकाल के संबंध में और राजनीतिक नीतियों के संबंध में व्यवस्थापिका से स्वतंत्र होती है। इस प्रकार की प्रणाली में राज्य का प्रधान नाममात्र की कार्यपालिका नही होता, वरन् वास्तविक कार्यपालिका होती है और उन शक्तियों का वास्तव में प्रयोग करता है, जो संविधान व कानून के अनुसार उसको प्राप्त होती है।''

9.4.1 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की विशेषताएं

अध्यक्षीय शासन प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताएं हैं।

1. राज्य के अध्यक्ष की स्थिति- राष्ट्रपति सरकार व राज्य दोनों का प्रधान- अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति राज्य व सरकार दोनों का ही प्रधान होता है। वह राष्ट्रीय नीति का निर्माण करता है। सेनाओं के संचालन का ओदश देता है। आपातस्थिति की घोषणा कर सकता है तथा देश में व्यवस्था बनाए रखने हेतु कानूनों के प्रवर्तन के लिए सभी आवश्यक कदम उठाता है। इस प्रकार ऐसे शासन में ससंदीय शासन की तरह दो कार्यपालिकाएं (नाममात्र की व वास्तविक) नहीं होती हैं। संविधान द्वारा कार्यपालिका शक्तियॉ राष्ट्रपति को प्राप्त होती हैं, साथ ही उसकी यह शक्तियॉ वास्तविक भी होती हैं।

2. राष्ट्रपति का निश्चित कार्यकाल- अध्यक्षीय सरकार में राष्ट्रपति एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित किया जाता है। अमेरिका में राष्ट्रपति का कार्यकाल चार वर्ष के लिए निश्चित है, इस अवधि से पहले व्यवस्थापिका उसे महाभियोग के अलावा अन्य किसी तरह से नहीं हटा सकती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में महाभियोग का कार्य ''हाऊस आफ रिप्रेजंटेटिव'' (प्रतिनिधि सदन) से आरम्भ होता है तथा राष्ट्रपति अपना स्पष्टीकरण देता है। विवाद का निर्णय सीनेट में पूरे सदन के 2/3 बहुमत से होता है। अब तक केवल एक बार अमेरिका में सन् 1867 में

राष्ट्रपति जानसन के विरूद्ध महाभियोग लगाया गया लेकिन सीनेट में यह प्रस्ताव एक मत से पास होने से रह गया और राष्ट्रपति को पद से नही हटाया जा सका।

3. राष्ट्रपति व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं- अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है तथा राष्ट्रपति(कार्यपालिका), व्यवस्थापिका को भंग नही कर सकता है। राष्ट्रपति तथा उसके मंत्री व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों में भाग नहीं लेते । राष्ट्रपति व्यवस्थापिका में कोई महत्वपूर्ण भाषण देने हेतु जा सकता है अथवा वह अपना संदेश भेज सकता है जिसे व्यवस्थापिका स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। मंत्रीगण भी व्यवस्थापिका के सत्र में उपस्थित हो सकते है परन्तु मतदान का अधिकार नहीं होता। राष्ट्रपति या उसके मंत्री न तो व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और न उन्हें अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता है, यानि व्यवस्थापिका भी कार्यपालिका को भंग नही कर सकती।

4. मंत्रीमण्डल का अभाव- अध्यक्षीय शासन में वैसा मंत्रीमण्डल नहीं होता, जैसा संसदीय शासन में होता है। राष्ट्रपति को सहायता व परामर्श देने के लिए कुछ सचिव होते हैं। इन सचिवों को सामूहिक नाम से 'राष्ट्रपति की कैबिनेट' कह दिया जाता है। परन्तु सच्चे अर्थो में यह कैबिनेट नहीं है, न तों यह कैबिनेट एक इकाई के रूप में कार्य करती हैं, न वह विधायिका के प्रति उत्तरदायी है, न उसकी तानाशाही है। व्यवस्थापिका से मंत्रियों को कुछ लेना-देना नहीं है, राष्ट्रपति ही उनका 'स्वामी' है।

5. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित- अध्यक्षीय सरकार की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है। सरकार के तीनों अंग एक दूसरे से पृथक व स्वतंत्र होते है। कार्यपालिका के सदस्य न तो व्यवस्थापिका के सदस्य होते है और न वे कानून निर्माण में भाग लेते हैं, इसी प्रकार व्यवस्थापिका केवल कानून बनाती है। वह राष्ट्रपति या उसके मंत्रियों से न तो प्रश्न पूछ सकती है और न अविश्वास प्रस्ताव द्वारा पदच्युत कर सकती है।

6. संसदीय शासन में जिस प्रकार प्रधानमंत्री की महत्ता है वैसे ही अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति की महत्ता होती है।

9.4.2 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के गुण

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं।

1. स्थायी एवं दृढ़ शासन- अध्यक्षीय शासन का सबसे महत्वपूर्ण गुण है-शासन में स्थायित्व। निश्चित कार्यकाल के कारण राष्ट्रपति अधिक आत्म-विश्वास के साथ नीतियों का निर्माण व उन पर अमल कर सकता है। इसका कार्यकाल चार वर्ष, दो बार से अधिक नही हो सकता है, यानि कार्यपालिका का भाग्य व्यवस्थापिका के परिवर्तनशील मत पर निर्भर नही होता है। अतः सरकार स्थिर नीति का पालन कर सकती है। उसे अपने कार्यों को पूरा करने के लिए व्यवस्थापिका की ओर ताकने की आवश्यकता नहीं होती है। अमेरिका में कॉंग्रेस राष्ट्रपति के कार्यो में बहुत कम हस्तक्षेप कर सकती है।

2. अधिक कुशल शासन- शक्ति पृथक्करण पर आधारित होने के कारण यह शासन संसदीय शासन की तुलना में अधिक कुशल होता है। इसका कारण बताते हुए मैरियट ने लिखा है कि ''शासन की इस व्यवस्था में प्रशासन में वास्तविक रूप से कुशलता आती है क्योंकि मंत्रियों को हर समय व्यवस्थापिका में उपस्थित रहने में समय लगाना

नहीं होता और व्यवस्थापन कार्य भी कुशलता से होता है, क्योंकि व्यवस्थापिका के सदस्यों के मस्तिष्क अपने विशिष्ट कार्य में ही लगे रहते हैं।''

3. दलबन्दी का अभाव- अध्यक्षीय शासन में दलबन्दी का उग्र व दूषित वातावरण वैसा नहीं रहता, जैसा संसदीय शासन में देखा जाता है। इस प्रणाली में कार्यपालिका (राष्ट्रपति) व व्यवस्थापिका के निर्वाचनों के समय ही राजनीतिक दल सक्रिय रहते हैं, हर समय नहीं क्योंकि बीच में राष्ट्रपति को हटाया नही जा सकता है। अनावश्यक विरोध भी नही होता है और न राष्ट्रपति का दल उसका अन्धानुकरण करता है। निर्वाचन की समाप्ति के बाद राष्ट्रपति यदि चाहे तो अपने राजनीतिक दल से मुक्त होकर स्वतंत्र नीति पर चल सकता है। राजनीतिक दल प्रशासन पर अनुचित प्रभाव डालने में सक्षम नही हो पाते क्योंकि विरोधी दल के सामने ऐसा कोई लालच नहीं होता कि सदन के ज्यादा सदस्य यदि उसकी तरफ आ जाएँ तो वर्तमान सरकार टूट जायेगी और उसके स्थान पर दूसरी सरकार कायम हो सकेगी। यही कारण है कि दलबंदी की भावना जितनी संसदात्मक प्रणाली मे है, उतनी अध्यक्षीय प्रणाली में नही।

4. संकटकाल के लिए उपयुक्त- यह शासन संकटकाल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त शासन है। कारण यह है कि कार्यपालिका शक्तियॉ सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों दृष्टियों में राष्ट्रपति में ही निहित होती हैं। अतः किसी संकट के समय में वह अकेला निर्णय लेने में समर्थ है।

5. राष्ट्रीय एकता की सुदृढ़ता- अध्यक्षीय शासन का एक गुण यह भी है कि राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ रहती है। राष्ट्रपति पूरे देश का नेता है, एक दल का नही। इसलिए भी उससे बुद्धिपूर्ण न्यायोचित और राष्ट्रहित की अपेक्षा लोगों को रहती है।

6. निरंकुशता का अभाव- इस शासन प्रणाली में शक्ति-पृथक्करण होता है। अतः शक्तियॉ एक स्थान पर केन्द्रित न होने के कारण जनता के अधिकारों व स्वतंत्रताओं को संसदीय शासन की अपेक्षा कम खतरा रहता है। अध्यक्षीय शासन में जैसा कि अमेरिका में है अवरोध और सन्तुलन की प्रणाली'' के द्वारा, एक सरकार का अंग दूसरे अंग को नियंत्रित करता रहता है। जैसे राष्ट्रपति द्वारा की गई सभी नियुक्तियॉ व विदेशों के साथ संधियॉ, सीनेट द्वारा पुष्ट की जाती हैं। कांग्रेस द्वारा निमित कानून तथा कार्यपालिका के आदेश न्यायालय द्वारा इस आधार पर रदद् किए जा सकते हैं कि वे संविधान के विरूद्ध हैं। साथ ही राष्ट्रपति को भी इतनी व्यापक शक्तियॉ प्राप्त हैं कि व्यवस्थापिका और न्यायपालिका भी तानाशाह बनने का स्वप्न नहीं देख सकते।

7. योग्य और अनुभवी व्यक्तियों को मंत्री नियुक्त किया जा सकता है- अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति मंत्रियों को योग्यता व अनुभव के आधार पर नियुक्त करने के लिए स्वतंत्र है। राष्ट्रपति निकसन तथा जेराल्ड फोर्ड के शासनकाल में हेनरी कीसिंगर विदेश मंत्री बनाये गये जो पहले हारवर्ड विश्व विद्यालय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रोफेसर थे। परन्तु संसदीय सरकार में प्रधानमंत्री के ऊपर कई प्रकार के बन्धन होते हैं और वह मंत्रियों की नियुक्ति केवल योग्यता व अनुभव के आधार पर ही नही करता है।

8. बहुदलीय प्रणाली वाले देशों के लिए उपयुक्त- उन देशों के लिए जहॉ बहुदलीय प्रणाली है, अध्यक्षीय शासन अधिक लाभकारी हो सकता है, कारण स्पष्ट है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निश्चित समय के लिए हो जायेगा, संसदीय सरकार की तरह मिले-जुले मंत्रीमण्डलों के बदलने का भय समाप्त हो जायेगा।

(9) विशाल राष्ट्रों के लिए उपयुक्त- विशाल और विभिन्नतापूर्ण राष्ट्रों के लिए अध्यक्षीय शासन अच्छा है। जिस देश में भाषा, जाति व संस्कृति की विभिन्नता हैं, उसमें संसदीय शासन की तुलना में अध्यक्षीय शासन अधिक सफल हो सकता है।

9.4.3 अध्यक्षात्मक शासन प्रणालीके दोष

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के दोष निम्नलिखित हैं।

1. अनुत्तरदायी एवं निरंकुश शासन- अध्यक्षीय शासन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें राष्ट्रपति का कार्यकाल निश्चित होने के कारण उसके निरंकुश होने का खतरा बना रहता है। इसीलिए आलोचक इस प्रणाली को ''निरंकुश, गैर जिम्मेदार एवं खतरनाक'' कहते हैं। उसे महाभियोग की अत्यधिक कठिन प्रक्रिया होने के कारण आसानी से नहीं हटाया जा सकता। अतः वह एक अधिनायक की तरह शासन कर सकता है। बेजहॉट ने कहा है कि ''आपने अपनी सरकार (अध्यक्षीय) के संबंध में अग्रिम निर्णय कर दिया है, भले ही वह आपको पसन्द है अथवा नहीं, वह आपकी इच्छा की है या नहीं, आपको कानूनन उसे रखना ही होगा।''

2. सहयोग का अभाव- अध्यक्षीय शासन में शक्ति पृथक्करण के कारण सरकार के विभिन्न अंगो में सहयोग नहीं रह पाता है, प्रत्येक अंग एक दूसरे से ईर्ष्या रखता है व संघर्ष के लिए तैयार रहता है। राष्ट्रपति न तो व्यवस्थापिका की समस्या को समझ पाता है और न व्यवस्थापिका राष्ट्रपति की समस्या को। कभी-कभी इन कारणों से शासन में मतभेद व गतिरोध पैदा हो जाता है। विशेष रूप से उस समय जबकि राष्ट्रपति के दल का व्यवस्थापिका में बहुमत न हो। वास्तव में राष्ट्रपति की शक्तियॉ चाहे जितनी व्यापक हो, परन्तु कांग्रेस यदि वित्तीय मॉगों का अनुमोदन न करें तो कार्यपालिका विषम हो जाती है। ऐसा कई बार हुआ है।

3. कठोर शासन प्रणाली- अध्यक्षीय शासन में लचीलेपन का गुण नहीं होता है जोकि संसदीय शासन में होता है। इसके तीन कारण हैं, प्रथम, शासन संबंधी सभी बाते संविधान में निश्चित होती हैं। दूसरे, जब कोई संवैधानिक विवाद पैदा होता है तो न्यायालय की शरण ली जाती है, जिसका रवैया कठोर ही रहता है। तीसरे, संविधान कठोर होता है, अतः आवश्यकतानुसार संशोधन नही किये जा सकते हैं। यह सब बातें अमेरिका में पायी जाती हैं।

4. उत्तरदायित्व के निर्धारण की समस्या- अध्यक्षीय शासन में जब कोई गलत कार्य होता है, तो कार्यपालिका व व्यवस्थापिका इसका उत्तरदायित्व एक दूसरे पर थोपने का प्रयास करते है। संसदीय शासन की तरह यह उत्तरदायित्व कार्यपालिका के पास निश्चित नहीं होता है। चूँकि राजसत्ता बॅट जाती है। अतः यह पता नही चलता कि शासन की बुराई के लिए कार्यपालिका दोषी है अथवा विधानमंडल। राष्ट्रपति को शिकायत रहती है कि जिन कानूनों को वह जरूरी समझता है, उन्हे कांग्रेस या विधानमंडल पारित नहीं कर रहा है। दूसरी ओर विधानमंडल के नेता, यह कहते है कि कानूनों को ईमानदारी के साथ लागू नहीं किया जा रहा है।

5. वैदेशिक नीति की दुर्बलता- अमरीकन अध्यक्षीय शासन के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति स्वतंत्र व सुदृढ़ वैदेशिक नीति पर नहीं चल सकता, क्योंकि व्यवस्थापिका उसके कार्यो में बांधा डालती है। 1919 में राष्ट्रपति विलसन द्वारा की गई 'वार्साय की संधि' को अमरीकन सीनेट ने ठुकरा दिया था।

6. शक्ति-पृथक्करण की अव्यावहारिकता- अध्यक्षीय शासन शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है, परन्तु यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है। शासन के कार्यों का पूर्ण पृथक्करण न तो सम्भव है और न वॉछनीय ही समस्त

शासन मनुष्य के शरीर के समान है जिसके कई अंग कर देने से वह बेकार हो जाता है। शक्ति पृथक्करण के कारण कभी-कभी सरकार के अंगों में अनावश्यक मतभेद व गतिरोध होता है, जिससे प्रशासन निष्क्रिय हो जाता है।

7. एक व्यक्ति पर उत्तरदायित्व- अध्यक्षीय शासन का एक दोष यह भी है कि शासन का पूरा भार एक ही व्यक्ति राष्ट्रपति पर होता है। अतः शासन की सफलता या विफलता उसी के गुणों व अवगुणों पर निर्भर रहती है।

8. अत्यधिक खर्चीली- इस व्यवस्था में चुनाव बहुत खर्चीला होता है तथा आम-चुनावों के समय राजनीतिक दल पूर्ण रूप से सक्रिय होते हैं। वहीं सामान्य काल में महत्वहीन रहते हैं और राजनीतिक चेतना को प्रदीप्त करने का महत्वपूर्ण कार्य नही कर पाते।

9.5 संसदात्मक व अध्यक्षात्मक सरकारों में अंतर

1.संसदीय सरकार का आधार शक्तियों का संयोजन है, जबकि अध्यक्षीय सरकार का आधार है- शक्ति पृथक्करण।

2.संसदीय सरकार में राज्य का प्रधान (राजा या राष्ट्रपति) नाममात्र का होता है। प्रधानमंत्री सहित मंत्रीपरिषदवास्तविक कार्यपालिका होती है , अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति ही राज्य व सरकार दोनों का प्रधान होता है। अतः एक ही कार्यपालिका होती है।

3.संसदीय सरकार में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका से स्वतंत्र नही रहती, अध्यक्षीय शासन में वह व्यवस्थापिका से स्वतंत्र रहती है। अध्यक्षीय शासन में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका दोनों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग रहते हैं।

4.संसदीय शासन में कार्यपालिका तभी तक अपने पद पर है जब तक कि उसे संसद (प्रायः निचले) मे बहुमत का समर्थन प्राप्त है, परन्तु अध्यक्षीय शासन में कार्यपालिका (राष्ट्रपति) का कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है। इससे पहले केवल महाभियोग की कार्यवाही से ही उसे पदच्चुत किया जा सकता है।

5.संसदीय शासन में मंत्रिगण व्यक्तिगत व सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहते हैं, परन्तु अध्यक्षीय शासन में केवल राष्ट्रपति के प्रति।

6.संसदीय शासन में मंत्रिगण आवश्यक रूप से व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और उनकी कार्यवाहियों में भाग लेते हैं। इतना ही नही वे व्यवस्थापिका का मार्ग-निर्देशन व नेतृत्व भी करते हैं। अध्यक्षीय शासन में मंत्री राष्ट्रपति के अधीनस्थ होते हैं।

7.संसदीय सरकार में प्रधानमंत्री और अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति देश का नेतृत्व करता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. संसदात्मक शासन प्रणाली का जनक किस देश को माना जाता है?

क. भारत ख. अमेरिका ग. ब्रिटेन घ. जापान

2. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का जनक किस देश को माना जाता है?

क. अमेरिका ख. भारत ग. ब्रिटेन घ. फ्रान्स

3. डायसी के अनुसार लचीलापन, संसदीय शासन का महत्वपूर्ण गुण है। सही/गलत

4. लार्ड मॉर्ले ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को ''मंत्रिमण्डल रूपी भवन की..... कहा है''।

9.6 सारांश

संसदीय और अध्यक्षीय शासन व्यवस्थाएं अपनी विशेषताओं के साथ-साथ अपने सबल तथा दुर्बल पक्षों को भी रखती हैं। इनमें से किसी शासन की सफलता किसी देश की जनता के स्वभाव व उसकी राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। अमेरिका में जहॉ अध्यक्षीय शासन प्रणाली सफल है, वहीं ब्रिटेन में संसदीय शासन प्रणाली बहुत सफल है।

आज भारत के संदर्भ में कहा जा रहा है कि उसे अध्यक्षात्मक प्रणाली स्वीकार कर लेनी चाहिए। वस्तुतः तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो संसदीय शासन अधिक ठीक है। इसके कई कारण है- यह उत्तरदायी शासन है, सरकार के विभिन्न अंगो के बीच संघर्ष की सम्भावना नहीं रहती है। संसदीय शासन प्रणाली प्रजातंत्र के भी अधिक निकट है।

9.7 शब्दावली

संयोजन- व्यवस्थित करना, ईष्या- जलन, विशिष्ट- प्रमुख/मुख्य या महत्वपूर्ण, सजातीयता- एक जाति विशेया का होना/समान्ता, सामूहिक उत्तरदायित्व- सब की जिम्मेदारी, शक्ति पृथक्करण- शक्ति का बटा होना, बहुदलीय- एक से अधिक दल, आपात स्थिति- संकट का समय

9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग 2. क 3. सत्य 4. आधारशिला

9.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति- पीटर एच0 मार्कल
राजनीति विज्ञान एक परिचय- पिनांक एवं स्मिथ
संवैधानिक सरकारें और लोकतंत्र- कार्ल जे0 फ्रैडरिक
तुलनात्मक राजनीति एंव राजनीतिक संस्थाएं- सी0बी0 गैना

9.10 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. तुलनात्मक राजनीति एंव राजनीतिक संस्थाएं- सी0बी0 गैना
2. आधुनिक सरकारें- सिद्धान्त एंव व्यवहार- डॉ0 पुष्पेश पाण्डे, डॉ0 विजय प्रकाश पंत एंव घनश्याम जोशी

9.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. संसदात्मक शासन प्रणाली को स्पष्ट करते हुए इसके गुण-दोषों को स्पष्ट कीजिए।
2. संसदात्मक शासन प्रणाली की अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट करते हुए इसकी विशेषताओं की विस्तार से चर्चा काजिए।
3. अध्यक्षीय शासन प्रणाली से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए इसके गुण-दोष बताइये।
4. संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों को स्पष्ट करते हुए, दोनों शासन प्रणालियों में अंतर को स्पष्ट करें।